।। ॐ ह्रीँ श्रीँ अर्हं श्री सीमंधरस्वामिने नमः ।।
।। परमोपकारी श्री प्रेम-भुवनभानु-जयघोष-राजेन्द्रसूरीश्वर सद्गुरुभ्यो नमः ।।

॥पुण्य॥



प. पू. न्याय विशारद आचार्यदेव श्रीमद् विजय
भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा



वीर संवत
२५४८

विमोचन पर्व

विक्रम संवत
२०७८

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा का ८७ वा जन्मदिन
अषाढ वद-२, दि. १५-०७-२०२२, शुक्रवार

₹ - १००/-

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट

प्रथम आवृत्ति
१००० नकल

प्राप्तिस्थान

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाळभाई वी. शाह
39, कलिकुंड सोसायटी, जि. अहमदाबाद - 387810
O : 02714 - 225482
www.jainonline.org

कर्णावती ब्रश
रूपेशभाई वोरा
82, फतेहपुरा गाँव, उमंग म्युनिसिपल स्कूल के सामने,
पालडी, अहमदाबाद - 380 007 M : 95861 23446

उर्मिलभाई शाह
D/2/3, नूतनजीवन को.हा.सो.,
कृपानगर, ईर्ला, विले पार्ला (वेस्ट), मुंबई - 56.
M : 9820527710

हिन्दी अनुवाद	डिजाईन	कम्पोझ	प्रिन्टिंग
आशिष शाह	हार्दिक कापडिया	निखिल पटेल	पारस प्रिन्टर्स
(79906 42294)	(99302 02335)	(99785 54500)	(98690 08907)

अविरत आशिषवर्षा



परम पूज्य सिद्धान्त महोदधि आचार्यदेव
श्रीमद् विजय प्रेम सूरीश्वरजी महाराजा



परम पूज्य न्याय विशारद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा



परम पूज्य सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा



परम पूज्य प्रशांतमूर्ति वर्तमान गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराजा



परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव

श्रीमद् विजय
जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा के

८७ वे जन्मदिन निमित्त...

परम पूज्य आचार्य श्री उदयवल्लभसूरीश्वरजी म.सा. की प्रेरणा से

मातृश्री भानुबेन नवीनचंद्र नानालाल दोशी (महुवावाले)

हस्ते : रूपेशभाई नवीनचंद्र दोशी – अमी रूपेशभाई दोशी

सलोनी–देवांशी

जुहु गृहस्वप्न, गुलमहोर रोड, श्री इर्ला जैन संघ, विलेपार्ला (वेस्ट), मुंबई

कलम से निकला अमृत...

परम पूज्य न्यायविशारद गुरुदेवश्री भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा का साहित्य, ऐसा है जैसे मिष्टान्न के साथ दी गई औषधि हो !

गुरुदेवश्री 'परमतेज' एवं 'उच्च प्रकाशना पंथे' समान तत्त्वरस से भरपूर इन्जेक्शन-औषधि देने में तो समर्थ थे ही, साथ ही, समरादित्य, सीताजी आदि कथानक द्वारा मिष्टान्न देने में भी कुशल थे !

गुरुदेवश्री की बातों में विशेषता तो यही रहती थी कि मिष्टान्न से अधिक 'कद' औषधि का रहता !

रुक्मी राजा, अनाथी मुनि, तरंगवती, सुलसा, अंजना, सीताजी... आदि अनेकविध कथाओं के माध्यम से गुरुदेवश्री ने, हमारे मुख से 'अद्‌भुत' शब्द निकल पड़े, इस प्रकार मनमोहक तत्त्वचिंतन का निरूपण किया है।

पुण्य ! नरसिंह के जीवनचरित्र के आधार पर इस पुस्तक का आलेखन हुआ है। नरसिंह के जीवन में विभिन्न दौर में जीवन में कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे प्रभुदर्शन से अर्जित पुण्य ने रक्षा की; यह बातें गुरुदेवश्री ने अति रोचक पदार्थों द्वारा समझायी है।

नरसिंह के जीवन पर आधारित, प्रकाशित किये गये अन्य पुस्तक-कृतियाँ भी पढ़ने-देखने का अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु गुरुदेवश्री ने जैसी तत्त्वदृष्टि से संपूर्ण जीवनचरित्र देखा है और तत्त्व-अमृत कलम से पुस्तक में तात्त्विक आलेखन किया है, वह देखते हुए गुरुदेवश्री की तत्त्वोन्मेष प्रज्ञा के समक्ष मस्तिष्क झुक जाता है।

'दिव्यदर्शन' साप्ताहिक वर्ष - २५, अंक - ६ से १९ में क्रमबद्ध प्रकाशित किया गया नरसिंह चरित्र अब नये नाम, नये रूप एवं नये आकार के सहित स्वतंत्र पुस्तक के स्वरूप में प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है !



परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर, सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा** के जन्मोत्सव के भाग रूप पूज्य गुरुदेवश्री के पुस्तकों पर ओपन बुक एक्झाम का आयोजन हो रहा है। गुजराती और हिन्दी से आगे बढ़कर अब अंग्रेजी भाषा में भी पूज्य गुरुदेवश्री का साहित्य प्रकाशित हो रहा है, यह बात आनंददायी है।

लगातार सातवें साल ओपन बुक एक्झाम के आयोजन में इस वर्ष **पुण्य** पुस्तक प्रकाशित हुआ है। तत्त्वजिज्ञासु आत्मा ऐसा तत्त्वसमृद्ध साहित्य का पठन-मनन कर आत्मविशुद्धि प्राप्त करें, यही मंगल कामना।

लि.
कुमारपाल वी. शाह
कलिकुंड, धोलका



युग परिवर्तक

सदियों में कभी-कभार ही ऐसे कोई पुरुष अवतरित होते हैं, जिनकी सिद्धि के मधुर परिणाम सदियों तक लोगों को याद रहेंगे।

परम पूज्य वर्धमान तपोनिधि,
न्याय विशारद, आचार्यदेव श्रीमद् विजय
भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा !

जैनधर्म जब विक्रम की २०वीं सदी से २१ सदी में आगे बढ़ रहा था, तब इन युगपुरुष ने युग परिवर्तन का शंखनाद कर एक नयी क्रांति लायी । २०वीं सदी के फास्ट ट्रेक पर दौड़ती-भागती दुनिया को एक क्षण के लिए स्थगित कर दे, ऐसा एक महा सिंहनाद किया ।

इनका संसारी नाम कांति था । इंग्लेन्ड में G.D.A. (C.A. समान ही) डिग्री फर्स्ट क्लास पास करने के बाद इन्होंने २२ वर्ष की उम्र में सगे भाई पोपट के साथ जैनदीक्षा स्वीकार की ।

जैनधर्म की कठिन और कठोरतम साधना का पालन करने के साथ-साथ सघन शास्त्राभ्यास किया । जैनागमों के साथ-साथ अन्यधर्मों का तलस्पर्शी अवगाहन भी किया । अभ्यास हेतु ज्यादा से ज्यादा समय मिले इसलिए ये महापुरुष छट्ठ के पारणे छट्ठ (यानि हर तीसरे दिन मात्र एक बार भोजन) करते थे !

अपने गुरुदेव पू. श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराज के मंगल आशीर्वाद लेकर, **वि.सं. २००५** में मुंबई पधारें । इनके प्रवचनों ने युवकों पर जादुई असर किया। मोह-माया की नगरी के भोग-विलासी श्रीमंतों को इनका एक प्रवचन वैराग्य में डूबों देता । जिस समय दीक्षा होना दुष्कर गिना जाता था, उस २१वीं सदी के पहले ही दशक में इन युगपुरुष ने परिवर्तन का महायज्ञ प्रारंभ कर दिया । मात्र पाँच वर्ष में ३५ युवक इनके शिष्य बनें, और जब इन महान युगपुरुष ने देहत्याग किया, तब २५० से ज्यादा सुयोग्य शिष्य के गुरुपद पर बिराजमान थे !

अपने प्रवचन से इन्होंने सदा ही श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध किया । **वि.सं. २००८** दिव्यदर्शन साप्ताहिक पत्र शुरू करके वाचकों के हृदय तक जैन तत्त्वज्ञान सरलतापूर्वक पहुँचाने का भगीरथ कार्य किया । यह साप्ताहिक पत्र ४२ वर्षों तक चला। जिसका समग्र संकलन 'भुवनभानु एन्साइक्लोपीडिया' के नूतन संस्करण में संमिलित किया गया है ।

वि.सं. २०११ वर्ष के दरमियान जब पूना में थे, तब मोरारजी देसाई की सरकार में बालदीक्षा के विरोध में प्रस्ताव चालु हुआ, तब तत्काल

ही मोरारजी देसाई से मिलकर जैनदीक्षा का स्वरूप और उपयोगिता समझाकर मोरारजी को भी बालदीक्षा के समर्थक बना दिये ! अपनी तार्किकता, विद्वत्ता और पुण्य का प्रताप दिखाया । बालदीक्षा करनी चाहिये या नहीं ? यह फैंसला जब जनमत पे सौंपा गया, तब इस युगपुरुष ने अपनी असरकारक जबान और वेधक लेखनी के माध्यम से बालदीक्षा के समर्थन में जबरदस्त माहौल खड़ा किया। उसका परिणाम? बालदीक्षा के विरोध में ५०,००० मत भी नहीं थे, जबकि समर्थन में ३,००,००० से भी ज्यादा मत थे।

संयमित जीवन, जिनाज्ञा को समर्पित वर्तन, अनेकों को संयम देने के साथ-साथ उन शिष्यों का ध्यान रखना, प्रवचन, लेखन, चिंतन, वगैरह अनेक कार्यों की व्यस्तता के बावजूद भी जन-समाज को इन युगपुरुष ने कभी नजरअंदाज नहीं किया। आज-कल के युवकों को धर्माभिमुख बनकर संतोषी और सुखी जीवन कैसे जी सके? इसके लिए उन्होंने एक मौलिक प्रयोग भी किया। जिसका नाम है : **शिबिर**। आज जो युवक धर्म के प्रति श्रद्धालु और संसार के प्रति संतोषी-सुखी दिखता है, उसमें शिबिर का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

२०वीं शताब्दी के आखरी दशक में दीक्षा स्वीकार कर इस युगपुरुष ने २१वीं सदी के प्रथम दशक में जो परिवर्तन की क्रांति का सृजन किया, उसका वर्णन शब्दों में करना तो अन्याय ही होगा !

उनके पुरुषार्थ को देखकर ऐसा कह सकते है : उन्होंने एक जीवन में अनेक जिंदगी जी ली थी !

उनकी सिद्धि को देखकर ऐसा कह सकते है : वे 'जेक ओफ ओल' नहीं, पर 'मास्टर ओफ ओल' थे ।



परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय

जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा

जन्म तो हर किसी का होता है, किंतु उनमें से कुछ लोगों का जन्म इस संसारचक्र के जन्म-मृत्यु की परंपरा में अधिक जन्म मात्र बनकर रह जाता है। जबकि कुछ विरल विभूतिओं के जन्म इस संसारचक्र के जन्म-मृत्यु की परंपरा में जन्म को कम करते है।

इसी व्यक्तित्व को धारण करनेवाले विरल विभूति थे
पूज्यपाद गच्छाधिपति गुरुदेवश्री!

संयम स्वीकार :

लालबाग-मुंबई के उपाश्रय में एक शरारती बालक पर पूज्यपाद भुवनभानुसूरि महाराजा का दृष्टिपात हुआ। ऊपर से शरारती दिखनेवाले उस बालक में उन्होंने गंभीरता, गीतार्थता और भावि 'गच्छाधिपति' के गुण देखे। उस बालक का नाम था : **जवाहर**।

सिर्फ १३ साल के नन्हे जवाहर ने पिता मफतभाई के साथ भायखला-मुंबई के उपाश्रय में बैशाख वद-६, २००६ के शुभ दिन प्रव्रज्या का स्वीकार कर वेश के साथ-साथ नाम भी बदला।

जिनशासन के अंबर में जिसका आदर, गौरव और गरिमापूर्ण घोष-प्रतिघोष होनेवाला था, वह पुण्य नाम था : **मुनिश्री जयघोष विजय**।

सद्‌गुरु कृपा :

दादागुरुदेवश्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के पवित्र सांनिध्य में बालमुनिश्री जयघोष विजय संयम साधना में अग्रसर थे। वहीं एक प्रसंग घटीत हुआ, जिसके कारण बालमुनि के ज्ञान, गुण और पुण्य की गति वृद्धिमान हो गई।

वि.सं. २०११ के वर्ष में दादागुरुदेवश्री अहमदनगर से मुंबई की ओर पधार रहे थे। एक दिन खडकी (पूना के पास) गाँव में दादागुरुदेव बिराजमान थे। शाम को दहाणु की तरफ विहार था। मुनिश्री जयघोष विजय म. को ४ डिग्री बुखार होने के कारण उन्होंने संथारा किया हुआ था।

शाम को ४.०० बजे दादागुरुदेवश्री ने विहार का आरंभ किया और अन्य महात्मा को सूचन किया कि, 'मुनि जयघोष उठे, तब उन्हें ले कर आ जाना।'

यहाँ, कुछ समय पश्चात् ही पूज्यपादश्री जागृत हुए, तभी ज्ञात हुआ कि दादागुरुदेवश्रीने तो विहार कर लिया है।

४ डिग्री बुखार में गर्म शरीर की परवाह किए बिना ही तुरंत ही पूज्यपादश्री ने विहार किया और मध्य मार्ग में ही दादागुरुदेवश्री तक पहुँच गए।

पूज्यपादश्री की गुरुभक्ति देखकर दादागुरुदेवश्री अत्यंत प्रसन्न हुए। मानों कि गुरुकृपा का शक्तिपात हो गया।

उसके बाद तो सभी विहार में एक हाथ में घड़ा होता, तो दूसरे हाथ में गुरु का हाथ।

संस्कृत सर्जन :

वि.सं. २०१७ में दादागुरुदेवश्री की भावना थी कि नूतन दीक्षित साधु कर्मग्रंथ के विषय पर नवसर्जन करे। उस भावना को साकार करने हेतु दादागुरुदेवश्री ने ११ लोगों की टीम बनाई। जिसके कप्तान थे : मुनिश्री जयघोष विजय।

समग्र सृजन की मेटर का संग्रह करने से लेकर संशोधन तक की समग्र जिम्मेदारी निभाने के साथ-साथ पूज्यपादश्री ने ४०,००० श्लोक प्रमाण संस्कृत टीका का भी सृजन किया। गुर्जरभाषा में भी पूज्यपादश्री की तत्त्वपूर्ण ४० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई है।

भावि गच्छाधिपति :

वि.सं. २०२० में दादागुरुदेवश्री ने अपने समुदाय हेतु पट्टक बनाया। जिसमें दो कलम में पूज्यपादश्री का नाम लिखकर जिम्मेदारी के साथ अधिकार प्रदान किया।

(१) शास्त्रीय बातों में मुनिश्री जयघोष विजय का मार्गदर्शन प्राप्त करना।

(२) पं.श्री भानु वि.म. का समुदाय मु.श्री जयघोष वि. को सोंपना।

जब यह पट्टक लिखा गया तब पूज्यपादश्री का चारित्र पर्याय था : सिर्फ १४ वर्ष और उम्र थी : सिर्फ २८ वर्ष!

सिद्धान्त दिवाकर :

जलगाँव-महाराष्ट्र में पूज्य गुरुदेवश्री भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा ने पूज्यपादश्री की पात्रता के प्रमाणपत्र समान आचार्यपद प्रदान करने का निर्णय लिया।

महा सुद-१३, २०४० के मंगल दिन गुरुदेवश्री ने आचार्यपद के साथ 'सिद्धान्त दिवाकर' पद प्रदान करके पूज्यपादश्री की ज्ञानसमृद्धि का सम्मान किया।

सिद्धान्त = शास्त्र, दिवाकर = सूर्य। शास्त्रसंबंधित कोई भी प्रश्न पूछे, पूज्यपादश्री के पास शास्त्रपाठ समेत समाधान अवश्य मिल जाता। तभी तो जिनशासन में पूज्यपादश्री मोबाईल लाइब्रेरी के रूप में प्रसिद्ध थे।

अरे! शास्त्र में जिसके पाठ ना मिलते हो, वह वर्तमानकालीन समस्या भी पूज्यपादश्री से पूछते ही पलके झपकते ही तुरंत समाधान प्रदान करने का ज्ञान-सामर्थ्य था। तभी तो, शासन में उपस्थित हो रही किसी भी समस्या में सकल श्रीसंघ पूज्यपादश्री के समाधान को अंतिम निर्णय के रूप में स्वीकार लेते थे।

सुविशाल गच्छाधिपति :

पूज्य गुरुदेवश्री चैत्र वद-१३, २०४८ में कालधर्म होने के बाद पूज्यपादश्री २५० श्रमण-समुदाय के 'गच्छाधिपति' बने।

गंभीरता और गीतार्थतात, वैराग्य और वात्सल्य, पुण्य और प्रभाव... गुणसमूह के बल पर पूज्यपादश्री ने 'प्रेम-भुवनभानुसूरि समुदाय' को ६०० से अधिक श्रमण-संपदा से समृद्ध बनाया। एवं २७ वर्ष तक यह पद का कुशल निर्वाह कर श्रीसंघ के प्रत्येक क्षेत्र पर अमाप उपकार किया। सकल श्रीसंघ में 'गच्छाधिपति' शब्द मानों कि पूज्यपादश्री का पर्यायवाची नाम बन गया।

सिद्धितप :

श्रीसंघों की एकता करने हेतु पूज्यपादश्री ने एक नवीन प्रयोग किया। जहाँ भी चातुर्मास तय हो, उस संघ के विस्तार में तमाम संघों का संगठन करके पूज्यपादश्री सामूहिक चातुर्मास करते थे।

श्रीसंघों के मोतियों को पिरोकर रखने में धागे का कार्य करता था : सिद्धितप।

पूज्यपादश्री के पच्चक्खाण में इतनी शक्ति थी कि, उनके मुख से पच्चक्खाण ग्रहण करनेवाले जीवन में कभी भी नवकारशी न की हो, तब भी सिद्धितप जैसे कठिन तप को सरलता से कर लेते थे। प्रति चातुर्मास सैंकडों की संख्या में तप करनेवाले तपस्वीओं को और तप के पच्चक्खाण व वासक्षेप करनेवाले पूज्यपादश्री को देखा है। तपविश्व में पूज्यपादश्री 'सिद्धितप' के ब्रान्ड एम्बेसेडर थे!

समाधि स्थान :

कार्तिक (राजस्थानी : मार्गशीर्ष) वद-१, २०७६ के दिन पूज्यपादश्री ने दिव्य प्रयाण किया। आंबली-अहमदाबाद में उनका समाधि स्थान वास्तव में हमारे लिए समाधि प्राप्त करने का स्थान बना है।

८४ वर्ष की आयु और ७० वर्ष का निर्मल संयमजीवन आराधनेवाले पूज्यपादश्री का यह भव जन्म-मरण की परंपरा में एक भव की बादबाकी कर गया, लेकिन साथ-ही-साथ समग्र जिनशासन के लाखों भव्यात्माओं के जीवन में धर्म की वृद्धि भी कर गया।

महापुरुष विराट होते है। उनकी कभी विदाय नहीं होती एवं उनका कभी विलय भी नहीं होता। स्थापना और नामस्वरूप से जीवंत पूज्यपादश्री का प्रभाव अभी भी बरकरार है।

अनुक्रमणिका

१. प्रभुदर्शन का प्रभाव — १

२. भिक्षुक : राज्य का उत्तराधिकारी? — ३१

३. हत्या का प्रयास ! — ३८

४. परमात्मा बचायें उसे कौन मारे? — ४०

५. नरसिंह यक्ष का मंदिर — ६२

६. नरसिंह : शेठ का पुत्र ! — ६७

७. युद्ध में विजय — ८९

८. नरसिंह को 'विष' या 'उषा'? — १००

९. राजकुमार की हत्या — ११७

१०. राजा को पश्चात्ताप — १३५

११. राजा की दीक्षा – नरसिंह राजा — १४५



१. प्रभुदर्शन का प्रभाव

पूर्व में जिन्होंने वीतराग प्रभु के दर्शन कर पुण्य अर्जित कर यहाँ जन्म लिया, तो उसमें भी मुख्य प्रभाव किसका? हमारी दर्शनक्रिया का या दर्शनीय प्रभु का?

दर्शन मोहांधों के नहीं, बल्कि देवाधिराज के ही किये जाते है, तभी वे आर्य मानव बनने का पुण्य देते हैं।

यह सूचित करता है कि दर्शन की ऐसी महत्ता नहीं है, लेकिन दर्शनीय की-दर्शन के विषय की महत्ता है। महत्ता-उपकार किसका? इसकी पहचान भी हमें नहीं है!

नरसिंह की कथा :

शास्त्र में वर्णित है कि, नरसिंह का जन्म एक ब्राह्मण के गृह हुआ था और बालक होने के बावजूद उसके पिता उसे राजा के चरणस्पर्श करने हेतु राजसभा में ले जाते है। राजा के चरणस्पर्श करते वक्त ही वहाँ उपस्थित ज्योतिषी उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है।

राजा द्वारा पूछे जाने पर ज्योतिषी कहता है : 'अहो ! यह बालक तो अति भाग्यशाली है ! उसकी रेखाओं द्वारा स्पष्ट होता है कि वह आपकी गादी पर राजा बनेगा !'

राजा इस बात को विपरीत प्रकार से ग्रहण करते हुए सोचता है कि, 'यह क्या ! मेरा पुत्र नहीं, अपितु यह दक्षिणा माँगकर खानेवाला मेरा वारिस? इसे मौत के घाट उतारना ही पडेगा।' यह सोचकर गोपनीयतापूर्वक किसी कातिल को तैयार करके उस बालक की हत्या का प्रयत्न करता है। वह भी एक नहीं बल्कि चार-चार बार प्रयत्न करता है ! किन्तु वह नरसिंह हर बार बच निकलता है ! उसे किसने बचाया?

चारों घटनाओं में बालक स्वयं इस तरह फँस जाता है मानो कि मरने ही वाला हो, बचने की कोई गूँजाईश ही ना थी; फिर भी येनकेन वह बच निकलता है। किसके प्रताप से?

राजा के द्वारा उसकी हत्या करने की चारों योजनाओं में से एक भी योजना की एवं राजा की मार डालने की दानत की कोई भनक तक नहीं थी। राजा बाहर से अत्यंत प्रेम बरसाता है, किन्तु हत्या की गुप्त योजना बना रहा है; फिर भी नरसिंह को एक खरौच तक नहीं आती। किसके प्रभाव से?

यही ना कि, मौत के मुख से बचने की स्वयं की कोई चतुराई नहीं है, किन्तु पूर्व के भिक्षुक भव में वीतराग परमात्मा के दर्शन अनेक बार किये थे, जिसके पुण्य से उसे यह मानवभव की प्राप्ति और लगातार मृत्यु से बच निकलने का अवसर प्राप्त हुआ।

नरसिंह को किसने बचाया? :

प्रश्न : तो, यह दर्शन ने बचाया ना? इसमें प्रभु का क्या प्रभाव हुआ?

उत्तर : प्रभु का प्रभाव इस तरह हुआ कि, वहाँ नगर के अनेक मंदिर में वीतराग परमात्मा थे और उन परमात्मा के निरंतर दर्शन कर-कर के उसने अद्‌भुत पुण्यसमूह संचित किया था। तब अनार्य देश की भाँति वीतराग परमात्मा ही ना होते, अनेक मंदिर और उसमें अनेकानेक भगवान ही ना होते; तो उत्साह में आगे बढकर भी किसी प्रकार अनेक वीतराग-दर्शन कर पाता?

अत: मूल प्रभाव, मुख्य प्रभाव तो वीतराग परमात्मा का ही है, जिनके दर्शन पा कर और पुण्यसंचय करके यहाँ मानवभव में आ कर चार-चार बार जानलेवा प्रयत्न का भोग बनने से बचकर राजा बनता है।

पूर्वभव में वह भिक्षुक था, इतना ही नहीं भाग्य से धुत्कारा हुआ भिक्षुक था। अत: उसे कहीं से भी झूठा भोजन तक प्राप्त नहीं हो रहा था। तब, वह अन्य नगर में जाने हेतु अपने नगर से बाहर निकल रहा था, वहीं पर उसे साधु मिले। वह साधु को विनती करता है कि, 'मैं भिक्षुक हूँ, तीन दिनों से भूखा हूँ, मेरे पर कुछ दया करो।'

साधु कहते है : 'भाई ! तुने पूर्वभव में धर्म की साधना नहीं की, अत: इस भव में तुझे भोजन या अन्य सुख से दूर रहना पडा है। अत: धर्म की साधना कर।'

भिक्षुक कहता है : 'प्रभु मैं क्या धर्म करूँ? धर्म करने हेतु मेरे पास एक पैसा तक नहीं है, जिसका दान कर के धर्म कर सकूँ।'

आर्यभूमि का भिक्षुक भी यह समझता है कि, 'हमारे पास जो भी संपत्ति है, उसका भोग हम करें या हमारा परिवार करें, उसमें कोई धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो अन्य को दान करने से ही होता है।'

क्या आप इतने समझदार हो?

- स्वयं उपभोग करना धर्म नहीं, अपितु अन्यों हेतु उपयोग करना धर्म है।
- स्वयं मौज करना धर्म नहीं, अपितु अन्यों का दु:ख निवारण करना या पूज्यों की भक्ति करने में धन या वस्तु का उपयोग करना ही धर्म है।
- **धन अर्जित करके भंडार में रखना धर्म नहीं है, अपितु शुभ क्षेत्रों में धन का उपयोग करना ही धर्म है।**

क्या यह समझ आपके पास भी है? तो, प्रात:काल में उठकर दुग्ध से भरा पात्र ग्रहण करने हेतु बैठ जाओ और परिवार को भी दुग्धपान करवाओ, उसमें धर्म नहीं लगता है ना? और वही दुग्ध प्रभु के प्रक्षाल में ले जाना धर्म लगता है ना? स्वभोग व परिवारभोग में धर्म नहीं तो क्या है? मोह-पोषण का पाप ही है ना?

आपके व परिवारजनों हेतु रोटी में घी का १० ग्राम उपयोग होता है वह पाप और परमात्मा के सन्मुख प्रभात में घी की बत्ती ले जाओ वह धर्म है। एक बत्ती में कितना घी उपयोग होता है? १०-२० ग्राम? नहीं, मात्र १-२ ग्राम; इतना भी घी ले कर प्रभु सन्मुख हो कर दीपक प्रगटाना वह धर्म है। यह ज्ञात है ना?

कहने का तात्पर्य यही है कि, आप और परिवार के समस्त सदस्य मात्र घी की बत्ती भी प्रथम परमात्मा के सन्मुख ना ले जा कर स्वयं घी का उपभोग करने लगो, तब आपके हृदय को दु:ख तो होता कि,

'यह मैं क्या कर रहा हूँ? मेरे प्रभु का मुझ पर यह उत्तम जैन मानवभव और



घी आदि प्रदान करवाने का कैसा विशाल उपकार? और मैं दुष्ट, अ-कृतज्ञ यह क्या कर रहा हूँ?'

'उपकारी प्रभु के महाउपकार के सन्मुख लेशमात्र भी कृतज्ञता करने की कोई बात ही नहीं? और यह मेरी काया व यह परिवारजन जिन्होंने मुझ पर पूर्वभव में कोई उपकार नहीं किया उनकी झोली में ढैर लगा दूँ?'

इस प्रकार कोई चिंतन होता भी है क्या? क्या स्वभोग-परिवारभोग से भी पूर्व प्रतिदिन प्रात:काल में ही मंगलमय प्रभु की पूजा में मंगलमय दीपक नहीं हो सकता? मंगलदान नहीं हो सकता?

जब हृदय में कोई संवेदना ही नहीं होती, तब बेदामी भोग, बेदामी भोजन, बेदामी वस्त्रादि का भोग करने वक्त मन के परिणाम न जाने कितने निष्ठुर व रागसंक्लेश युक्त बन जाते होंगे?

वह भिक्षुक कहता है : 'प्रभु ! मेरे पास एक पैसा तक नहीं है, तो मैं कैसे धर्म करूँ? किसीको दान दूँगा, तभी तो धर्म होगा ना?'

प्रथम धर्म 'दान' क्यों? :

भिक्षुक की समझ यह है कि, 'दान अर्थात् एक पैसा भी अन्य किसी को प्रदान नहीं किया, तो हमने क्या धर्म किया?' यह समझ कहाँ से प्राप्त हुई?

इस अवसर्पिणी युग में इस भरतक्षेत्र में ऋषभदेव भगवान ने सर्वप्रथम धर्म का शिक्षण प्रदान किया। जिसमें दानधर्म को प्रथम क्रमांक दिया।

धर्म के चार प्रकार - दान, शील, तप, भावना में दानधर्म को ही प्रथम रखा है ना? स्वयं जब धर्म पुरुषार्थ करने हेतु तैयार हुए, तब प्रथम कार्य वरसीदान का किया, तत्पश्चात शील अर्थात् चारित्र का पालन किया। चारित्र पालन करते-करते केवलज्ञान प्राप्त किया, अनंतज्ञानी सर्वज्ञ बने, तब जगत को धर्म के चारों प्रकार का और उसमें प्रथम प्रकार दानधर्म का उपदेश दिया।

इस प्रकार तब से 'दानधर्म पहला', यह संस्कार आर्यदेश में जागृत है। अत: वह भिक्षुक भी समझता है कि, 'अन्य को कुछ देना ही नहीं है, तो धर्म कैसे होगा?'

उसे मिलनेवाले मुनिमहाराज समझाते है : 'भाई ! यह तो जिसके पास कुछ

देने योग्य हो, उसे प्रथम दान करना है। किन्तु जिसके पास तो कुछ भी नहीं है, क्या वह कोई धर्म नहीं कर सकता? वह व्यक्ति भी कर सके, ऐसा महान धर्म है : जिनेश्वर भगवंत के प्रतिदिन दर्शन करना।'

'इस नगर में जिनमंदिर अनेक है। उन तमाम स्थानों का दर्शन करने पर तू उत्तम धर्म कर सकेगा।'

'धर्म करनेवाले को सुख स्वयं चलकर प्राप्त होता है।'

भिक्षुक इस प्रकार का आश्वासन प्राप्त करते ही उत्साहित हो गया और कहने लगता है : 'ऐसी बात है? तब तो मैं यहाँ अनेक परमात्माओं के दर्शन कर सकूँगा। आपने मुझे यह मार्ग बताकर मुझ पर अनंत उपकार किया है। आज तक मैं अँधकार में भटकता रहा हूँ। भीख माँगने हेतु दर-दर भटकता रहा, किन्तु दर्शन करने हेतु प्रभु के मंदिर नहीं गया। महानिधानतुल्य प्रभुदर्शन हाथों में करीब होने के बावजूद मैंने गँवा दिये। कोई बात नहीं, अब आपने इस बात से अवगत करवाया है, तो खूब ध्यान से प्रभु दर्शन करूँगा। मैं बार-बार आपका उपकार मानता हूँ।'

अब, वह भिक्षुक क्यों कोई कसर बाकी रखेगा? नगर के अनेकानेक जिनमंदिरो के वह अत्यंत भाव से दर्शन करने लगा। वह भिक्षुक दर्शन करते हुए थकान का कोई अनुभव ही नहीं करता। वह समझता है कि,

'पेट को रोटी के टुकडे की कमाई हो, इस हेतु से नगर में प्रतिदिन भ्रमण करता रहा, अब आत्मा को धर्म की कमाई हो, इस हेतु से प्रभुदर्शन करने हेतु मंदिरों की भ्रमणा क्यों ना करूँ?'

बस, वह भिक्षुक दर्शन का ही धर्म करता रहा। उसमें परभव में राजा बने, राजसी सुख प्राप्त हो और धर्म की प्राप्ति हो, ऐसे पुण्य का उपार्जन करता गया। साथ-साथ मृत्यु की आपत्ति से भी बचाव प्राप्त हो, वह पुण्य भी प्राप्त हुआ।

इसी पुण्य का प्रभाव था कि पश्चात नरसिंह के अवतार में स्वयं के ही अन्य कोई अशुभ कर्म का उदय होने पर राजा द्वारा बर्बर हत्या की स्थितिओं का निर्माण होने पर भी, वह इसी पुण्य के कारण चार-चार बार सरलता से बच जाता है।



यहाँ सोचना है कि, विशाल साधन-संपन्न और सत्ताधीश राजा भी उसे मार डालने हेतु बार-बार योजना बना रहा है, तब मृत्यु से बचना इतना सरल है क्या? इतना ही नहीं, स्वयं को ज्ञात हो कि, 'मेरे जीवन में मोत की आपत्ति आ रही है,' तब किसी भी तरह बच निकलने का प्रयत्न हो सकता है, किन्तु यहाँ तो इस बात की भी कोई भनक तक नहीं लगती, अत: बचने का कोई प्रयत्न ही नहीं है। ऐसी स्थितियों में भी प्राणों की रक्षा हो जाये, ऐसे सुगम संयोग बन जाते है। यह किसका प्रताप है?

अनजाने मार्ग से ही बचाव प्राप्त हो जाता है, यह प्रभु का उपकार है :

इस बात का अन्य कोई जवाब ही नहीं है। सिवाय कि पूर्व के पुण्य ही उसे बचा लेते है। अन्यथा राजा ने तो संयोग ही ऐसे बना दिए थे कि नरसिंह की मृत्यु निश्चित ही हो जाती, फिर भी वह बच जाता है।

इस घटना में पुण्य प्रदान करनेवाले प्रभुदर्शन का, वह भी वीतराग परमात्मा के दर्शन का, अन्य देवी-देवताओं का दर्शन नहीं; उसका ही प्रभाव था।

अर्थात् दर्शन का विषय अचिंत्य प्रभावी और अमाप पुण्य का बंध करवाये, ऐसे वीतरागी परमात्मा थे, तभी तो पुण्य का संचय हुआ। अत: मूल, मुख्य उपकार तो प्रभु का ही है।

प्रसिद्ध पिता का पुत्र चंदा (टीप) जमा कर दिखाये, उसमें उपकार किसका? :

यह कभी मत भूलना कि, उत्तम कार्य में आप चाहे कितने भी चतुर हो, किन्तु जो भी उत्तम फल प्राप्त हो रहा है, वह यदि आपके पिताजी की ख्याति से या सेठ की आबरू से प्राप्त हो रहा हो, तो मुख्य उपकार उनका ही गिना जाता है। बडे प्रसिद्ध श्रीमंत बाप का पुत्र हो, वह चतुर भी हो और धर्म हेतु कोई टीप लेकर निकल जाये, उसकी चतुराई से लाखो रुपयों की बोली भी लग जाये, इन तमाम क्रियाओं में मुख्य बडप्पन किसका है?

उसके पिता का ही, जिस पर भरोसा रखकर लोग संपत्ति प्रदान करते है, नहीं कि उसकी अपनी चतुराई का। वहीं यदि कोई सामान्य पिता का पुत्र चाहे कितना भी बडा वाग्चतुर हो, किन्तु वह टीप जमा करने निकल पडे तो क्या वह लाखों की संपत्ति अर्जित कर पायेगा? नहीं। 'तेरी नहीं बल्कि तेरी पाघ

की शाख है। तू सामान्य मानवी का पुत्र है, अत: कितनी भी चतुराईपूर्वक वाणी बोले, तुझे कोई कोडी भी नहीं देगा।'

उत्तम क्रय भी प्रसिद्ध पिता या सेठ के प्रभाव से :

वैसे ही, क्रय करने हेतु चाहे कितनी भी चतुराई हो, किन्तु बडे प्रसिद्ध व्यापारी के कर्मचारी के स्वरूप में बाजार से बडे पयमाने पर जो खरीदी कर लेता है; वही कर्मचारी उन सेठ से अलग हो कर इतनी खरीदी नहीं कर सकता। तो, चतुराई वही की वही होने के बावजूद एक तरीके से खरीदी कर सके, किन्तु दूसरे तरीके से खरीदी ना कर सके; इस प्रकार खरीदी की क्रिया में मुख्य किस तत्त्व ने कार्य किया? व्यक्ति की चतुराई ने या फिर सेठ की साहबी ने?

समझने हेतु मन हो, तो समझ सकेंगे।

वैसे ही वीतराग प्रभु के दर्शन से विशाल पुण्य और उस पुण्य के विशाल फल प्राप्त होते है। उसमें मुख्य कारण वीतराग प्रभु ही है। प्रभु के दर्शन से ही विशाल फल है। इसलिए प्रभु का अनन्य उपकार है।

अनन्य उपकार किसका? पुण्य का भी नहीं और पुण्य का निर्माण करनेवाले आपके पूर्वभव के कोई दर्शनादि धर्म पुरुषार्थ का भी नहीं, अपितु उसमें मुख्य आधारभूत परमात्मा का ही मुख्य उपकार है, असाधारण उपकार है।

यह सब आपको इसलिए ज्ञात करवाना पड रहा है, याद करवाना पड रहा है, मानसपटल पर अंकित करवाना पडता है; क्योंकि

हर कदम पर वीतराग परमात्मा परम उपकारी के तौर पर याद रहे और बार-बार उनका आभार व्यक्त करने का मन हो।

प्रात: निद्रा से सुखरूप जागृत होने पर यह याद रहे कि, 'अहो प्रभु ! आपका कितना विशाल उपकार है ! निद्राधीन अवस्था में ही मृत्यु प्राप्त करके चला ना गया और क्षेमकुशलता से जागृत हो गया !'

इस प्रकार दिन में अनेक घटनाओं के दौरान प्रभु का उपकार याद आता रहेगा ! तब यह मत पूछना कि,

प्रश्न : प्रभु का उपकार बार-बार याद करने से क्या होगा?

उत्तर : (१) जैसे माता-पिता का उपकार बार-बार याद करनेवाला पुत्र स्वयं की कमजोरीयों पर रोता है और माता-पिता के जो गुण ग्रहण करने हेतु कार्यरत हो जाता है।

वैसे, वीतराग प्रभु के अनंत उपकार को यदि बार-बार याद किया जाये, तो प्रभु के गुणों को देख-देखकर स्वयं के गुनाहों पर रुदन किया जायेगा। मन में भाव होंगे कि, 'अनंत उपकार करनेवाले ऐसे गुणवान प्रभु के उपकारों तले दबा हुआ मैं इतनी त्रुटियों से युक्त अधम क्यों हूँ?' फिर उन त्रुटियों को नष्ट करने हेतु और गुणवृद्धि हेतु प्रयत्न होगा। और,

(२) माता-पिता के उपकारों को समझनेवाला पुत्र हृदय में खानदानी रखेगा कि वह अपकृत्यों में नहीं जायेगा। उसके मन में विचार प्रगट होंगे कि, 'इस माता का पुत्र मैं ऐसे अधमकृत्य करूँ? मेरी माता कौन है? मेरे पिता कौन है? मैं ऐसे अपकृत्य नहीं कर सकता।'

इस प्रकार, प्रभु के अनंत उपकार को बार-बार याद करने से यह शिष्टाचार हृदय में फैल जायेगा और उसके प्रभाव से वह अपकृत्य से बच जायेगा। मन में विचार होगा कि, 'मेरे इष्ट आराध्य देव कौन है? अनंत उपकार करनेवाले त्रिभुवनतारक अरिहंत भगवान है, और उनका सेवक बनकर मैं ऐसे अपकृत्य नहीं कर सकता। मैं दुष्ट-निम्न नहीं बन सकता।'

प्रभु के उपकार का भार मन पर बार-बार ग्रहण करे, उसकी बात हो रही है। अनुपम उपकार याद नहीं करने, उन यादों से हृदय को द्रवित नहीं करना है; उसे यह अनुभव ही नहीं होगा कि, बार-बार उपकारों को याद करने से कैसे महान लाभ प्राप्त हो जाते है !

यह सवाल हो रहा है ना कि, प्रभु के उपकारों को बार-बार याद करने से क्या लाभ है? वह उपकार का स्मरण और हृदय में भावनाओं का अनुभव नहीं है, तभी हो रहा है।



स्वयं काबिल ना होने पर भी प्रभु के आलंबन से बचा जा सकता है, इसलिए प्रभु उपकारी है :

हमें तो इतना भी ज्ञात नहीं है कि हमारी त्रुटियों को दूर करने हेतु और अपकृत्य से बचने हेतु क्या किया जाये। तो फिर कैसे बच सकेंगे? बचना है, तो उपकारी प्रभु का आलंबन जरूरी है।

'मेरे उपकारी प्रभु स्वयं इतने गुणवान और अन्यों को अपकृत्य से दूर हटने का उपदेश प्रदान करनेवाले है और मैं उन अनंत उपकारी प्रभु की प्राप्ति के बावजूद इतना कठोर रहूँ?'

स्वयं सुधरने की क्षमताहीन हमारे लिए उपकारी प्रभु ही महान आलंबन है, जिनके आश्रित बनकर सुधार हो सकता है। अरे ! स्वयं प्रभु के जैसे भी बन सकते है। कवि कहते है कि,

'प्रभुजी ने अवलंबतां निजप्रभुता हो प्रगटे गुणराशि के,

ऋषभ जिणंदशुं प्रीतडी'

अब, यह मत कहना कि,

प्रश्न : 'प्रभु का आलंबन तो ग्रहण कर ले, किन्तु प्रभु के उपकार को बार-बार क्यों याद करना?'

उत्तर : माता-पिता का उदाहरण ना भूले। समाज में गुणवान तो अनेक है, किन्तु उन गुणवान का आलंबन ग्रहण करके गुण हेतु जो पुरुषार्थ नहीं होता, वह पुरुषार्थ उपकारी गुणवान माता-पिता का आलंबन ग्रहण करके होता है। 'मेरी माता कैसी गुणवान है और उसका पुत्र हो कर भी मैं गुणवान ना बनूँ?' यहाँ प्राय: ऐसा कोई भाव नहीं होता कि, 'वह ऐसे गुणवान और मैं अवगुणी रहूँ?' जो भी माता-पिता का आलंबन ग्रहण करके होता है।

उसमें कारण यही है कि माता-पिता उपकारी है, पुत्र उनके उपकारों को बार-बार याद करता है। अर्थात् माता-पिता के उन उपकारों का भार पुत्र के हृदय में होता है, अत: पुत्र उनका आलंबन शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है।

माता-पिता का आलंबन शीघ्र ही ग्रहण किया जाये, तभी तो माता-पिता को



सावधान बने रहना है कि, संतान के हित के खातिर भी स्वयं मर्यादा भूलाकर पतित ना हो जाये; अन्यथा संतान तुरंत उनका ही आलंबन ग्रहण करेंगे।

माता-पिता यदि तुंडमिजाजी और अभिमानी होंगे, तो संतान पर उनके ही संस्कार रहेंगे। माता-पिता का आलंबन उत्तम होगा, तो संतान भी पडोशी का विवादी आलंबन ग्रहण नहीं करेंगे, उल्टा पडोशी अच्छा हो, तो भी तुंडमिजाजी माता-पिता के संतान उस पडोशी का आलंबन ग्रहण ही नहीं करेंगे।

यही बात सूचित करती है कि, उपकारी माता-पिता का आलंबन संतान विशेष रूप से ग्रहण करती है। अत: माता-पिता को सावधानीपूर्वक अवश्य रहना ही है।

देखो, इस बात को समझनेवाली जयपुर की महारानी ने क्या किया?

जयपुर के राजा की महारानी को उसके दो वर्ष की आयुवाले पुत्र के देखते हुए भी महाराजा ने विषययाचना से छेड लिया।

वहीं पर रानी क्रोधित हो कर राजा को कहती है : 'यह आप क्या कर रहे है? क्या आप देख नहीं पा रहे कि यह बालक हमें देख रहा है? इसका योग्य निर्माण कैसे होगा?'

राजा कहते है : 'अभी वह क्या समझ सकता है?'

महारानी कहती है : 'भले कुछ समझता नहीं, किन्तु हमारी क्रिया उसके विचारों में तस्वीर के रूप में चित्रित हो जायेगी। और ऐसे न जाने कितने चित्र-संस्कार को ग्रहण करते हुए वह बडा हो कर उसका जीवन व्यर्थ कर दे सकता है। यह बालक हमारे गृह में पैदा हुआ है, तो क्या हमें मोह के आवेश में आ कर इस बालक की दया नहीं रखनी है कि उसका जीवन बरबाद ना हो जाये?'

महारानी ने तो सुंदर तत्त्व समझाया, किन्तु राजा अत्यंत सुंदर रूपवान रानी के मोहावेश में अंध बना हुआ था। अत: महारानी के समझाये तत्त्व पर ध्यान नहीं देता और बालक की दया भी नहीं देखता। और मोह के आवेश में पुन: रानी को विषयासक्ति से छेडते हुए कहता है कि, 'नहीं, नहीं। ऐसा कुछ नहीं है। अभी तो यह बालक अज्ञात है। उसे इन सब बातों की कोई समझ नहीं हो सकती।'

यह कहते हुए जैसे ही रानी को छूने जाता है, महारानी तुरंत वहाँ से उठकर दूर हो जाती है। किन्तु उसके मन में यही विचार रहता है कि, 'पति मोह में मूढ है। वह मोह में मूढता के नखरे अपनाकर इस बालक का जीवन बरबाद कर देगा। तो क्या मैं मेरे ही बालक के अहित में निमित्त बन जाऊँ? तो फिर मैं उसकी माता कैसे कहलाऊँगी?'

बस, यह आघात लगते पर दूसरे ही दिन रानी ने विषपान कर लिया, अपने आपको खत्म कर दिया।

आज की बहनों को क्या पसंद है? :

यह थी आर्यबालाओं की उत्तमता। आज की सिनेमाप्रेमी स्त्रीयाँ ऐसी उत्तमता का अनुभव कैस कर सकती है? सिनेमा के द्रश्य की भाँति मोहावेश में यह तत्त्व कैसे समझ पायेगी जिसके कारण संतान को कुसंस्कार से बचा सके? कुसंस्कार से बचाना तो दूर, उलटा वह स्त्री अपने नन्हें बच्चों को वही सिनेमा देखते हेतु ले जाती है।

अरे ! सिनेमा के अश्लील बिभत्स चित्रों से बालक के कोमल मन पर कैसी असर होगी ! इसकी कोई परवाह तक नहीं है। विषयलंपट आज की स्त्रीयों को ही वह द्रश्य देखना पसंद है। समाचारपत्र के भी वही बिभत्स चित्र व लेख पसंद करती है, उसमें उन्हें कोई अराजकता का अनुभव नहीं होता। तो फिर स्वयं की ही संतान की हितचिंता कैसे करेगी? वह तो संतान में भी इस प्रकार की लंपटता को हित समझती होगी !

सिनेमा देखना आदि विषयलंपटता में आर्य संस्कृति-सभ्यता का रक्षण कैसे होगा? जैनकुल तो अत्यंत उच्च कुल और यहाँ जन्म प्राप्त करनेवाली आर्यस्त्रीयाँ संस्कृति की रक्षा नहीं करेगी, तो फिर कौन करेगा? 'चंदनबाला-सुलसा की वारिस मैं अश्लीलता बतानेवाले बिभत्स सिनेमा देखने जाऊँ? उसे देखकर विषयलंपटता का पोषण करूँ? संस्कृति की हत्या कर दूँ? मैं कोई मेहतर या नीचकुलिन हूँ? मैं तो श्री महावीर प्रभु की श्राविका हूँ।' क्या ऐसा गौरव सिनेमारसिक बहनों में है?

जर्मनी में हिटलर ने सत्ताधीश बनते ही यह कार्य किया कि, सरकारी नौकरीओ



में जो भी युवान स्त्रीयाँ थी, उन्हें निष्कासित कर दिया, किन्तु उनके मन में यह भावना जागृत कर दी कि,

'आप सब लोहपुरुष जर्मन प्रजा की जन्मदाता हो। विश्व में जिस प्रजा की कोई जोड ना मिले, ऐसी शूरवीर जर्मन प्रजा को जन्म देनेवाली; आपको क्या नौकरी करना शोभा देता है? नौकरी करोगे, तो लोहपुरुष नहीं बल्कि सत्त्वहीन प्रजा को जन्म दोगे। क्योंकि,

यहाँ ओफिस में आपको बैठी हुई देखकर आपको देख-देखकर पुरुष नि:सत्त्व हो जायेंगे। आपके मनमोहक दर्शन करके उनका सत्त्व टिक नहीं पायेगा। और उन नि:सत्त्व पुरुषों के नि:सत्त्व वीर्य से आप कैसी प्रजा को जन्म दोगे? बुझदिल और नि:सत्त्व प्रजा को ही जन्म दोगे ना? अत: जागो, लोहपुरुषों को जन्म दे कर उनकी गौरवशाली माता बनने हेतु नौकरी में अपना त्यागपत्र दे दो।'

यही बात जर्मनी की स्त्रीयों के मन में रखकर उन्हें नौकरी से त्याग करवा दिया। क्या प्रभु महावीर की श्राविका कुछ गौरव लेना चाहेगी?

'मैं महावीर प्रभु की श्राविका स्वयं विषयलंपट बनूँ और पति को भी ऐसा ही बनाऊँ? संतान को भी ऐसा ही बनाऊँ? नहीं, मैं भी महाशीलवंती बनूँ और पति व पुत्र को भी शीलवान बनाऊँ। मैं भगवान की श्राविका हूँ, किसी पाखंडी की भक्ता या अनुयायिनी नहीं हूँ।'

हिटलर के मंतव्य में कैसी मजबूत विचारधारा थी ! 'पुरुष युवान स्त्रीयों को देखकर नि:सत्त्व बन जाता है।'

परस्त्रीदर्शन से शारीरिक नुकसान :

पुरुष के लिए स्त्री का दर्शन भी बूरा है। वह वीर्य को हीन बनाकर श्रोणिमार्ग से बाहर बहा भी देता है।

मुंबई के वैद्यो की कोन्फरन्स में किसी व्यक्ति के प्रश्न पर वैद्यो की तरफ से यह उत्तर प्राप्त हुआ था कि,

'आयुर्वेद की द्रष्टि से परस्त्री-दर्शन का नुकसान यह है कि, परस्त्रीदर्शन से एक ऐसी झनझनाहण उत्पन्न होती है, जिसके कारण उष्णता में वृद्धि होती है,

लहु उष्ण बनता है और उसके समीप जो रग होती है उसमें रहे घने वीर्य को पिघला देता है। तत्पश्चात वह पिघला हुआ वीर्य स्वत: बाहर बह जाने का मार्ग बना लेता है। मल-मूत्र-कफ-थूंक आदि किसी भी मार्ग से वह बाहर निकल जाता है। जिसके कारण शरीर शक्तिहीन बनता जाता है। फलत: शरीर रोगादि का सामना करने में असमर्थ बन जाता है; वैसे ही उच्च भावना, हिंमत, सत्साहस आदि हेतु भी लायक नहीं रहता। सात्त्विक प्रजा का जन्म ही नहीं होता।'

हिटलर ने यह तत्त्व जान लिया था, अत: परस्त्रीदर्शन को मिथ्या मानकर स्त्रीयों को नौकरी छुडवाकर गृह भेज दिया था।

पुरुष को पुरुष के प्रति कामराग :

स्त्री यानि पुरुष के लिए विजातीय कही जाती है, अत: उसका दर्शन तो गलत है ही किन्तु पुरुष भी जब अन्य रूपवंत पुरुष को काम की द्रष्टि से देखे, तब उसके लिए भी वह पुरुषदर्शन गलत है। वह कामराग को पोषण करता है।

कोई फूले हुए गालवाले बालक को देखकर उसके गोरे गाल पकडने का, खींचने का मन हो; वह भी काम का प्रकार है।

वैसे ही, पुरुष को पुरुष के गुह्यांग देखने का मन हो, सुंदर शरीर को देखने का या आलिंगन देने का मन हो, देखा जाये-आलिंगन दिया जाये; यह भी काम का ही प्रकार है।

इन तमाम क्रियाकलापों से दूर ही रहना है, अन्यथा काम का उन्माद व वीर्य का नाश शुरु हो सकता है। साथ ही, छोटे बच्चों को भी गलत आलंबन देने का कोई कार्य ना हो जाये, इस बात को ध्यान रखे।

जयपुर की महारानी ने मात्र दो वर्ष के बालक हेतु स्वयं अपने ही पति के असत् वर्तन के कारण से गलत आलंबन ना बन जाये, इस कारण आत्महत्या कर ली।

बात यही है कि, उपकारी का आलंबन जल्दी ग्रहण किया जाता है। अत:

- माता-पिता को संतान हेतु गलत आलंबन ना बनते हुए सावधानीपूर्वक गुणसुवासित जीवनयापन करना है। वैसे ही,

- संतान को भी उत्तम गुणवान माता-पिता का आलंबन ग्रहण करना है कि, 'मैं ऐसे उत्तम माता-पिता की संतान हूँ, मैं दुर्गुण सेवन या अपकृत्य नहीं कर सकता।'
- उससे भी अधिक आलंबन परमात्मा का ग्रहण करना है कि, 'मेरे परमात्मा कैसे सर्वोच्च है ! कैसे महान परमात्मा का मैं सेवक हूँ !'

आलंबन का महत्त्व अत्यधिक है, तभी तो हम प्रभु के दर्शन-पूजन-भक्ति आदि करते है, उसमें आलंबनभूत उन प्रभु का ही सब से बडा उपकार है।

अरे ! कठोर तप-संयम का आचरण हो, उसमें भी बडा उपकार प्रभु का ही है; क्योंकि उनके कथन का आचरण करने पर ही अनूठे फल प्राप्त होते है।

'कैसे उत्तम मेरे अहोभाग्य जो मुझे जिनाज्ञापालन का अवसर प्राप्त हुआ ! प्रभु का कैसा बडा उपकार के यह अत्युत्तम कल्याणमार्ग बताकर मेरा उद्धार किया !'

श्रेय किसे देना है? हमारी चतुराई-उद्यम को नहीं, बल्कि भगवान को देना है।

तभी तो श्रीपालकुमार जब-जब बच जाते है, तब-तब नवपद-सिद्धचक्र का उपकार मानते है। भले ही, आराधना का पुरुषार्थ स्वयं ने किया है, किन्तु वह भी प्रभु की प्राप्ति हुई तभी हुआ ना? नवपद की प्राप्ति हुई तभी हुआ ना? अत: मूल उपकार उनका ही है।

तब उन वीतराग परमात्मा का अचिंत्य उपकार भी कैसा हुआ कि वह भिक्षुक विभिन्न मंदिरो में प्रभु के दर्शनमात्र करनेवाला, भवांतर में राजा की उसे गुप्तता से मार डालने की चार-चार योजनाओं में से भी बच जाता है।

आज बुद्धि की भ्रष्टता का दौर चालु हो गया है। पं. रूपविजयजी के शिष्य मोहनविजयजी ने धर्मनाथ भगवान के स्तवन में प्रभु को पूकारा है :

'वायो रे नवि जाण्यो कलियुग वायरो रे लो।'

प्रभु ! कल्पना भी नही कर सकते ऐसी विचित्र कलियुग की हवा बहने लगी है, जिसमें बुद्धि अति भ्रष्ट होने लगी है। अत:

'अंतरजामी जीवन प्राणाधार जो।'

है अंतर्यामी प्रभु ! मेरे लिए तो अब आप ही जीवन हो, आप ही मेरे भावप्राण के आधार हो।

बुद्धि की कौन सी भ्रष्टता :

यही कि, नयनों से ना निहार सके उन अतीन्द्रिय तत्त्वों को न मानने की भ्रष्टता।

जैसेकि, आत्मा, कर्म, परमात्मा, उनका अचिंत्य प्रभाव आदि को ना मानने की भ्रष्टता, और इसी कारण इन्द्रियों के विषयो में चित्त को रातदिन लीन रखने की बुद्धिभ्रष्टता।

यह दावा करने की जल्दबाजी ना करे कि, 'हम तो अतीन्द्रिय तत्त्वों को मानते है।' क्योंकि उसे मानने के अरमान क्या? उसे मानने का हृदय पर भार क्या?

जीवन जीते है, अनेक विचार करते है, वाणी बोलते है, वर्तन करते है; उन तमाम क्रिया में आत्मा पर मुख्य द्रष्टि भी है या नहीं? कर्म पर? परमात्मा पर?

यदि आत्मा को माना होता, तो आत्मा पर मुख्य द्रष्टि रहती।

आत्मा पर मुख्य द्रष्टि यही कि, कोई भी विचार करने से पूर्व यह सोचा जाता कि,

- यह विचार मैं कर रहा हूँ, उसमें मेरी आत्मा को जन्म-मृत्यु से लगे हुए विषय-कषायों के मलिन भावों के संस्कारो में वृद्धि होगी या हानि?
- जानवर और अनार्य मानव के अवतार में तो ऐसे पापी विचार करके मलिन भावों के संस्कारों का ढेर लगा दिया, किन्तु अब यहाँ अच्छे आर्य मानव के अवतार में भी यही करना है क्या?
- पवित्र विचारों के माध्यम से, उन कुसंस्कारों द्वारा आत्मा पर लगे हुए कर्मो के ढेर को कम करने हेतु, यह जो सुंदर अवसर समान उत्तम अवतार प्राप्त हुआ है, उसमें बिलकुल विपरीत क्रिया करना?
- **क्या आर्य मानवभव में जानवर की तरह विषयों में ही लुब्ध-लंपट बनकर वही विचार करने है? क्रोध-मान-माया-लोभ के ही विचार करने है? और उन्हीं के कुसंस्कारों का ढेर जमाना है?**

ऐसी कोई जागृति है?

जिसकी द्रष्टि आत्मसन्मुख नहीं, उसे क्षुद्रता दिखाई ही नहीं देती।

स्वयं की ही आत्मा द्रष्टि के सन्मुख ना आती हो, तो उसे उचित-अनुचित का विचार ही कैसे होगा? और दिन-रात यही क्षुद्रता का गुलाम बनना पडेगा।

'अरे ! कैसी नीचता !' ऐसी चिंता भी कैसे होगी?

क्या विचार मात्र की क्षुद्रता है? नहीं, वाणी-शब्द भी वैसे ही बोले जाते है ! कैसे शब्द? मात्र विषय और कषाय के ही पोषक !

और वर्तन भी कैसा? कहों, इन्द्रियों का लगभग कहाँ उपयोग किया जाता है? काया की प्रवृत्ति किस हेतु से होती है? मात्र मोह-माया की ही प्रवृत्ति होती है। कभी आत्मा की चिंता की?

विषयों और कषायों से भरपूर विचार, वाणी और वर्तन से आत्मा का पतन हो रहा है या उत्थान?

हर कदम पर उस पतन के होने का अनुभव मन पर आ रहा है? चिंता होती है कि, 'अरे ! इस उच्च जन्म में ऐसे विपरीत खेल? यह क्षुद्रता?'

किन्तु मुख्य सवाल तो यही है कि, जैसे स्वयं की काया हर पल नजरों के सामने आ जाती है, वैसे स्वयं की आत्मा द्रष्टि के सन्मुख होनी चाहिये ना? आज के श्रद्धाभंग और कुबुद्धिवाद के भयावह युग में बुद्धि की भ्रष्टता ही ऐसी हो गई है कि अतीन्द्रिय आत्मादि तत्त्व नजर के सन्मुख ही नहीं आ रहे। कहते है कि,

प्रश्न : काया की भाँति आत्मा दिखती नहीं है ना?

उत्तर : यही बुद्धि की भ्रष्टता है।

'आत्मा द्रष्टिगोचर नहीं है, तो क्यों माने' यह बुद्धि की भ्रष्टता है।

हाथ-पैर में कालापन या गोरापन दिखता है। वैसे ही इसका जवाब भी तो दे दो कि, क्या आपकी अक्कल नजरों से दिखती है? नहीं, तो आप में अक्कल नहीं है, यही मान लेंगे ना? जो नजरों से ना दिखे, वह नहीं होता; यही मानना है, तो अक्कल होने का भी नहीं माना जा सकता।

अब कहो कि,

प्रश्न : किन्तु अक्कल का कार्य उत्तम बोलचाल, वर्तन तो दिखता ही है ना? अत: अक्कल के होने का प्रमाण मिलता ही है।

उत्तर : तो फिर, आत्मा का कार्य नहीं दिखता क्या? जो इन विषयों में राग-द्वेष, प्रीति-अप्रीति आदि भाव होते है एवं क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय के भाव होते है, वह कार्य किसका है? कहो,

जैसे रूप-रंग-कोमलता-कर्कशता-मोटापन-कमजोरी आदि काया के धर्म है, वैसे विषयों के राग-द्वेष और कषाय आदि कोई काया के धर्म नहीं है, अन्यथा मुर्दे में भी वही भाव प्रतीत होने चाहिए ! किन्तु वह सब आत्मा के धर्म है, अत: आत्मा जब शरीर से निकल जाये, तब वह भाव काया में नहीं दिखते।

अक्कल की तरह आत्मा का प्रमाण :

अरे ! अक्कल भी किसका कार्य? किसका धर्म है? दिमाग का? तो, दिमाग तो अभी भी वैसे का वैसा ही है। और किसीने उत्तम बातें समझाई, उन बातों को सुनकर अक्कल बढ गई; यह कैसे घटित हुआ? दिमाग तो मात्र मांस-मज्जा-ज्ञानतंतुओं से बना हुआ था। वह तो वैसे का वैसा ही है, तो उसमें अक्कल कैसे बढेगी?

तब समझ आता है कि, अक्कल मेद-मांस-मज्जा का गुणधर्म ही नहीं है। हाँ, दिमाग उसमें सहायक होता है, किन्तु वह दिमाग की वस्तु नहीं है। वह तो दिमाग से भिन्न वस्तु आत्मा का गुणधर्म है। वह आँखो से नहीं देखा जाता और ना ही जिह्वा से चखा जाता है।

इस प्रकार अक्कल द्रष्टिगोचर ना होने के बावजूद, अक्कल का कार्य उत्तम समझदार वाणी है और उस वाणी के आधार पर अक्कल का प्रमाण तय होता है। उसी तरह अक्कल किसका गुणधर्म अर्थात् उसका आश्रय कौन है? यह सोचने पर आत्मा भिन्न साबित होती है।

खेद-उद्वेगादि से आत्मा साबित :

इसी प्रकार ज्ञान, इच्छा, राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ, मद-माया, खेद-उद्वेग इत्यादि गुणधर्मो का आश्रय क्या है? जड शरीर नहीं, मांस-मेद-मज्जा से

निर्मित दिमाग नहीं। शरीर-दिमाग तो वैसे के वैसे ही होने के बावजूद अर्थात् शरीर-दिमाग की उपस्थिति होने के बावजूद राग-द्वेष आदि में फर्क होता रहता है। क्यों होता है?

उदा., विवेक की अनुपस्थिति में सामान्य घटना में भी हर्ष-खेद होता था। किन्तु गुरु उपदेश से विवेक प्राप्त करने के पश्चात हर्ष-खेद नहीं होते। यदि होते है, तब भी क्षणभर में ही उसे नियंत्रित कर दिया जाता है।

तो यह नियंत्रण कौन करता है? क्या दिमाग यह नियंत्रण करता है? दिमाग तो हर्ष-खेद में लग गया था, तो फिर वह क्यों नियंत्रण करेगा? तो कह सकते है कि आत्मा के विवेक ने, सम्यग्बुद्धि ने यह नियंत्रण किया।

अत: प्रमाणित होता है कि, हर्ष-खेद-राग-द्वेष आदि गुणधर्मो का आश्रय दिमाग नहीं, अपितु आत्मा ही है। और वह आत्मा बाह्य चक्षु आदि इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होता है, अत: अतीन्द्रिय है।

जीवन में अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ चक्षु से न देखे जाने के बावजूद उनके अस्तित्व का स्वीकार होता ही है।

नास्तिक भी जिसे नहीं देख सकते ऐसी अनेक वस्तुओं का अस्तित्व मानते ही है :

(१) दस्त होने पर, इस बात की प्रतीति तो हो ही जाती है कि, पेट में कुछ गडबड है, किन्तु वह गडबड ना दिखने के बावजूद उसके अस्तित्व का स्वीकार तो होता ही है।

(२) कोई पडोशी क्रोधित हो कर कुछ बोलता है, तो उसके भीतर रहा क्रोध ना दिखने के बावजूद यह तो माना जाता है कि उसके भीतर क्रोध भरा हुआ है।

(३) बालक भूखा होता है, तब उसके भीतर रही भूख को माता कभी अपनी आँखो से नहीं देख सकती। फिर भी, उसके रुदन होने पर नास्तिक माता भी उसकी भूख का अनुभव करती है।

(४) यहाँ बैठकर अमरिका भी नहीं देख सकते। फिर भी, मानचित्र (नक्शे) के आधार पर जान सकते है कि वह पश्चिम में स्थित है।

(५) स्वीच दबाने पर उसके भीतर स्थित पावर-बिजली देखे ना जाने के बावजूद उसका अस्तित्व मानना ही पडता है।

(६) मानव के शरीर में भूत का प्रवेश होने पर वह भूत दिखता नहीं है, किन्तु भूतप्रवेश के पूर्व मानव के हावभाव से भूतप्रवेश के पश्चात के हावभाव देखकर यह अवश्य माना जाता है कि, उसके भीतर भूत का प्रवेश हो गया है।

(७) व्यापारी अधिक माल या अधिक मूल्य का बिल भेज दे, तो यह समझ सकते है कि उसके मन में कपट है। तो क्या वह कपट नजरों से दिखता है? दिखता होता, तो माल ग्रहण करते वक्त ही मूल्य उसके हिसाब में ना लिख दिया जाता? किन्तु वह कपट नजरों से ना देखे जाने के कारण विश्वास में रह कर लिखावट करने के बदले माल सीधा अपनी दुकान पर ले आये। इस प्रकार कपट अतीन्द्रिय होने के कारण बाद में बडा बील देखकर कपट किये जाने का प्रमाण मिलता है।

नास्तिक सत्तरहवीं पीढी को मानता है? :

ऐसे अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ नास्तिक को भी उसके कार्य अनुसार निश्चित रूप से मानने है। तो फिर, अतीन्द्रिय आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, परलोक, परमात्मा आदि का स्वीकार करने में हिचकिचाहट क्यों?

आज का दौर विलक्षण है। नास्तिक को तुरंत बोल देना है कि, 'आत्मा-वात्मा कुछ नहीं होता? आत्मा कहाँ दिखती है?' किन्तु उसे पूछो कि, 'आज से सत्तरहवीं पीढी में तुम्हारे दादा-परदादा-पूर्वज थे, वह तुमने देखे है क्या? तो क्या वह हुए भी थे कि नहीं?' क्या कहेगा वह? क्या यह कहेगा कि, 'ना, वे हुए ही नहीं थे?' यदि वह हुए ही नहीं थे, तो उनके पुत्र-प्रपौत्र कैसे हुए? और यदि वह भी नहीं हुए थे, तो फिर यही बोलो ना कि, 'मैंने मेरे पिता को देखा है, अत: वही हुए थे। उनके कोई दादा-परदादा को मैंने देखा नहीं, अत: वह हुए ही नहीं।'

पिताजी का कहना मानना है, महावीर का कहा नहीं? :

यदि उसके पिता कहे कि, 'बेटा ! मेरे पिताजी अत्यंत अच्छे इन्सान थे,

किन्तु तुम्हारे जन्म के पूर्व ही उनका देहांत हो गया। अत: तू उनको देख नहीं पाया,' तो अपने ही पिताजी के वचनानुसार उनके पिता उत्तम मानवी थे, यह मान लेना है, तो महावीर भगवान ने कठोर तपस्यापूर्वक केवलज्ञान प्रगट करके आत्मदर्शन किया, और हमें भी कहा कि,

'तुम्हारे पास केवलज्ञान के चक्षु नहीं है, अत: तुम्हे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखेगी। परंतु मुझे केवलज्ञान से वह साक्षात् दिख रहा है कि शरीर में वह कैद हुई और शरीर से बिलकुल भिन्न हयात है।' तो, प्रभु के यह वचन मानना ही नहीं है और बेकार की बातें करनी है कि, 'आत्मा-वात्मा नहीं होता।'

परलोक क्यों माने? :

प्रश्न : कहते है : 'परलोक कहाँ दिखता है? उसे कैसे माने?'

उत्तर : उसे कहो : 'अरे ! आज भी सैंकडों जातिस्मरण के उदाहरण है। उन्हें अपना पूर्वभव साक्षात दिखता है। उस पूर्वभव की तमाम बातों का प्रमाण भी प्रत्यक्ष मिलता ही है।' तो उन लोगों के विषय में क्या कहोगे?

'नहीं, वह भी झूठ है। परलोक जैसा कुछ है ही नहीं।' अभी भी यही कहना है क्या? इस प्रकार सत्य से मुँह मोड लेनेवाले वह आत्मा विचारक है क्या? बुद्धिमान है? या फिर विचारशून्य बुद्धिरहित है? ऐसे आत्माओ से तो उलझना ही बेकार है।

अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ मानने पर आत्मा-कर्म-परलोक-परमात्मा-मोक्ष आदि को भी अवश्य मानने चाहिये।

अरे ! वर्तमान में माने जाते कुछ अतीन्द्रिय पदार्थ तो हमने जैसे देखे है, वैसे किसी ने नहीं देखे होंगे। उदा. अणु, अणु के ११३ तत्त्व आदि के अस्तित्व को बराबर माना जाता है। तो आत्मा, परलोक, कर्म आदि महावीर भगवान ने प्रत्यक्ष देखे है, तो उन तमाम के अस्तित्व का स्वीकार करने में क्या परेशानी है? शास्त्रों में यह बात स्पष्ट शब्दों में लिखी हुई मिलती है। कहते है कि,

महावीर द्वारा ही कहे जाने का क्या प्रमाण है? :

प्रश्न : क्या प्रमाण है कि महावीर प्रभु द्वारा कही गई बातें ही शास्त्रों में लिखी गई है? बाद में उन वचनों में किसीने परिवर्तन भी किया होगा?

उत्तर : अच्छा? उसे कहो, तो क्या प्रमाण है कि तुं भी पीछे से ना आया हो? तुझे तेरे माता-पिता ने ही जन्म नहीं दिया है, यह भी कैसे मान नहीं सकते है? शायद वह कहेगा कि, 'मैंने नहीं परंतु पडोशीओं ने मेरी माता द्वारा मेरे जन्म को देखा है।' तो फिर यह बता कि, 'यही तेरे पिता है।' यह कैसे पडोसी कह पायेंगे? उनके द्वारा ही तुम माता के गर्भ में आये हो, इस बात का क्या प्रमाण है? वहाँ तुम्हें कोई प्रमाण नहीं चाहिए, कोई संदेह नहीं है, किन्तु यहाँ शास्त्रों की बातों पर हमेशा प्रमाण चाहिए कि, 'वह शास्त्र महावीर प्रभु द्वारा ही बताए गए है, इस बात का क्या प्रमाण है?'

यदि महावीर भगवान ने आत्मा, कर्म, परलोक आदि की बातें नहीं बताई, तो उन्होंने क्या कहा? वह बताओ।

महावीर प्रभु के होने का प्रमाण? :

प्रश्न : हमें तो 'महावीर परमात्मा हुए' उसका भी विश्वास नहीं होता ना?

उत्तर : किन्तु यह तो सोचो कि, उन्हीं महावीर परमात्मा की भारत देश में इतनी प्रतिमाएँ क्यों है? क्षत्रियकुंड में तो दो हजार वर्ष प्राचीन प्रतिमा है, नांदिया गाँव की प्रतिमा परमात्मा के ही भाई नंदीवर्धन ने स्थापित की थी।

महावीर भगवान की इतनी अनेक प्रतिमा का निर्माण करवाने वाले तमाम आत्मा मूर्ख और मूढ थे क्या? जो महावीर परमात्मा नहीं हुए थे, फिर भी काल्पनिक प्रतिमा बनावकर लाखों-करोडों के खर्च किए? उन प्रतिमाओं की परमात्मा के रूप में पूजा करनेवाले भी तमाम मूर्ख ही थे क्या?

आज तो हजारों वर्ष प्राचीन प्रतिमा भी प्राप्त होती है। परमात्मा की वह मूर्ति बनानेवाले और उसकी पूजा करनेवाले तमाम मूर्ख है? या मूर्ति व मूर्तिपूजा का निषेध करनेवाले मूर्ख है?

कैसा कलियुग ! कैसा भयावह कलियुग आया है? गुरु को उनके भक्त उनकी तसवीर रखकर प्रतिदिन वंदन करे, वह जचता है, किन्तु परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन-वंदन करे, वह पसंद नहीं ! नियम भी देते है कि, 'भगवान के मंदिर में नहीं जाना, मूर्ति के दर्शन नहीं करने।'

मूर्खता की पराकाष्ठा :

ज्ञात है ना कि किसी टूटी हुई नाकवाले ने 'नाक के कटने पर नारायण दिखने लगे' यह कहकर सोचकर अनेकों के नाक कटवा दिए? वैसे ही, स्वयं की मूढता को भोले लोगों में फैलाना है कि, 'मूर्ति को मत मानना।'

यह तो कैसा विषैला काल है? परस्त्रीओं के बिभत्स चित्र प्रकाशित करनेवाले समाचारपत्र न देखने की कोई प्रतिज्ञा नहीं है, ऐसे अभद्र सिनेमा देखने का भी कोई प्रतिबंध नहीं और वीतराग की प्रतिमा न देखने का नियम दिया जाता है !

परस्त्री का चित्रपट देखने की बाधा नहीं, प्रभुमूर्ति को देखने की बाधा; यह जहरीला काल ही है।

प्रश्न : नहीं, हम तो वह बाधा भी देते है कि वैसे समाचारपत्र-सिनेमा नहीं देखना।

उत्तर : तब तो बुरे फँसे। क्योंकि समाचारपत्र-सिनेमा में वास्तविक स्त्री तो है भी नहीं। उसमें तो तसवीर मात्र है। आपके विचारानुसार मूर्तिदर्शन से कुछ नहीं होता, तो तसवीर मात्र देखने से भी क्या होता है?

और यदि यह कहते हो कि, 'स्त्री का चित्र भी राग करवाता है और उसमें भी अश्लील बीभत्स चित्र तो उन्माद ही पैदा कर देता है।' तो फिर वीतराग परमात्मा की प्रतिमा और उनकी शांतरससभर मुद्रा वैराग्य नहीं देगी क्या?

कामी व्यक्ति को स्त्री का चित्र देखकर यदि कामोन्माद होता है, तो भक्त को परमात्मा की प्रतिमा देखकर भी वैरागी तरंग प्राप्त होती है; इसमें क्या संदेह?

छोटा भाई यदि पिताजी की तसवीर की अवगणना करता हो, तो बडे भाई को सहज यह कहने का मन हो ही जाता है कि, 'पापी ! कपूत ! पिताजी का अपमान करता है?'

तो फिर मूर्ति की अवगणना करनेवाले को भी सज्जन पुरूष नहीं कहेंगे कि, 'पापी ! कपूत ! अनंत उपकारी प्रभु की अवगणना करता है?' अब कहेंगे कि,

प्रश्न : हम मूर्ति में तो मानते है, किन्तु मूर्ति की पूजा में नहीं मानते।

उत्तर : यह भी अनुचित कथन है। क्योंकि विश्व में अनेक प्रतीको की पूजा होती ही है। उसे मिथ्या नहीं माना जाता।

विवाह के वक्त अनेक प्रतीकों की पूजा करते हो ना? मान स्तंभ की पूजा में आपके सन्मुख कौन सा पूज्य व्यक्ति है? कुलदेवी की पूजा में साक्षात् कुलदेवी भी तो प्रत्यक्ष है? तो, उन तमाम पूजा में कुछ भी गलत नहीं लगता और जिनेश्वर भगवान की शांतसुधारस से भरपूर मुद्रावान प्रतिमा को भगवान मानना और उनकी पूजा करना गलत लगता है?

प्रतीकों की पूजा के उदाहरण :

निष्ठावान प्रजाजन या सैनिक राष्ट्रध्वज का आदर करते है, उसे वंदन करते है, फूलहार से पूजन करते है; वह गलत नहीं है। क्योंकि संपूर्ण राष्ट्र का वह प्रतीक है। उसके वंदन-पूजन-आदर में देश के प्रति आदर-बहुमान समाविष्ट है। और इसी प्रकार ध्वजवंदनादि को करते रहने से मन में झुनून पैदा होता है, जिसके बल पर युद्ध में लडने का जस्बा मिलता है और अवसर होने पर शहादत दे कर भी देश की रक्षा की जाती है। ऐसा महान कार्य करवानेवाले उस राष्ट्रध्वज के वंदन-पूजन-आदर को मिथ्या कैसे कह सकते है?

तो फिर वीतराग के प्रति आदर को जागृत करनेवाली जिनप्रतिमा के दर्शन-पूजन को मिथ्या कहना, वह कहाँ की बुद्धीमत्ता है? या फिर वह मूर्खता है?

क्षत्रियाणी क्षत्रियपति के परदेशगमन वक्त कोई प्रतीक तलवार-कटारी-मोजडी को पूजन-प्रणाम करके प्रार्थना करती है : 'नाथ ! आप ही मेरे जीवन में एक आधार हो, आराध्य हो। दिनरात आप ही मेरे हृदय में बसे रहना, जिससे अन्य कोई पुरुष मेरे मन में प्रवेश ना कर पाये और अन्य कोई पुरुष पर मेरी द्रष्टि भी ना जाये।'

इस प्रकार पति की तलवार-कटारी-मोजडी की पूजा-प्रार्थना करके स्वशील की भावना को सुद्रढ बनाये रखे और मजबूत शीलपालन करे ऐसे महान लाभ को प्रदान करनेवाली उस प्रतीकपूजा को मिथ्या कह सकते है भला? या फिर उसे मिथ्या कहना वह मिथ्या कहा जायेगा?

शायद आपको ज्ञात नहीं होगा कि, राष्ट्ररक्षार्थ खूँखार युद्ध करते वक्त राष्ट्रध्वज को लहराता हुआ देख-देखकर सैनिकों को उसके प्रति अतिशय आदर के कारण विशिष्ट झुनून प्राप्त होता है और जीवन को दाँव पर लगाकर भी विजय प्राप्त कर के देश की सुरक्षा करते है। तो क्या ध्वज के प्रति रहा वह आदर मिथ्या है? मूर्खता, अज्ञानता है? या उस आदर को मिथ्या कहनेवाले में मूर्खता भरी है?

वैसे ही, क्षत्रियाणी अपने पति की मोजडी जैसे प्रतीक की भी रोज पूजा-प्रणाम-प्रार्थना कर-कर के शीलभावना को इस प्रकार अतिशय द्रढ बनाती है कि, देवर, जेठ या अन्य पुरुष के तरफ से चाहे कैसा भी लालच या भय हो, तब भी वह उसका सामना करके शीलपालन में कटिबद्ध रहती है।

तो क्या ऐसा महालाभ को प्राप्त करवानेवाले प्रतीक की उसके पूजा-आदर आदि किया, वह मूर्खता-अज्ञानता है? तो फिर वीतराग के प्रति आकर्षण-आदर बढ़ाकर वैराग्य बढ़ानेवाला वीतराग प्रभु की मूर्ति के दर्शन-वंदन-पूजन-आदर किये जाए, तब मूर्खता-अज्ञानता कहते है? पथ्थर की पूजा कहकर मूर्खता कहना है?

धर्म कोई बाप की जागीर नहीं है, जो मनचाहो तब उस पर आक्रमण कर दिया जाये। 'देखो, इनको तो पथ्थर में भी परमात्मा मिल गये !' क्या इस प्रकार मजाक बनाना उचित है?

कभी उन सैनिको के सन्मुख जा कर बोल दिखाओ कि, 'देखो, इन्हें राष्ट्रध्वज यानि एक कपडे में ही राष्ट्र दिख गया, जो उसे वंदन करने लग गये,' ऐसा बोलने पर क्या होगा? ज्ञात है? वहाँ तो उन वीर सपुतो की तलवार का प्रहार ही सहन करना होगा।

उस क्षत्रियाणी के सन्मुख जा कर बोलो कि, 'देखों ! यह विक्षिप्त ही हो गई है, जो मोजडी में पति आ गया।' क्षत्रियाणी या उसका सैनिक उठकर मजाक बनानेवाले के पेट में कटारी से प्रहार कर देंगे।

यहाँ तो धर्म के राज्य में कोई कुछ कहता नहीं तभी तो 'पत्थर में परमात्मा' की मजाक कर सकते हो ! यदि कोई खबर लेने वाला मिल गया, तो जल्द ही अक्कल ठिकाने पर आ जायेगी।

धर्म की मजाक धोलका में फैल गई :

एकबार धोलका में बहनें प्रात:काल में जल्दी से जिनालय जा रही थी। तब एक युवक बोला कि : 'भगवान को भी खीचडी खाने की कहाँ जल्दी है, जो इतनी जल्दबाजी करके चावल ले कर दौडने लगी हो?'

बहनों के मन में अत्यंत दु:ख हुआ कि, 'यह नादान उद्धत मानव भगवान की मजाक कर रहा है।' उस वक्त तो वह बहनें कुछ नहीं बोली, किन्तु जिनालयदर्शन के पश्चात नगरसेठ को यह बात बताई।

नगरसेठ ने क्या किया जानते हो? क्या बहनों को यह कह दिया कि, 'तुम भागती हुई जाती हो, तो उसने गलत क्या कहा?' नहीं, तो क्या यह कहा होगा कि, 'छोडो, उसका पाप उसे भारी?' नहीं, तो फिर क्या यह कह दिया होगा कि, 'हम क्या कर सकते है? जैसी जिसकी सोच, जो खुद को पसंद वह बोलता रहेगा।' ऐसा कुछ कहा था क्या? नहीं,

नगरसेठ ने कहा कि : 'ऐसा हुआ क्या? ठीक है, अब तुम शांति से बैठ जाओ, उसे करार जवाब मिल जायेगा।'

उन बहनों के जाने के पश्चात नगरसेठ ने पूरे गाँव में, संघ में यह आदेश कर दिया कि, 'वह युवक इस प्रकार के वचन बोलकर वीतराग भगवान का मजाक बना रहा है, अत: कोई भी उसके साथ कोई व्यवहार-नाता नहीं रखेगा।'

नगरसेठ का हुकम होते ही तमाम लोगों ने उस हुकम का पालन किया। इतना ही नहीं, उस युवक के घरवालों ने भी उसे कह दिया कि, 'यहाँ से चला जा, अब हम भी तुम्हारे साथ कोई नाता नहीं रख सकते। अन्यथा हमें भी संघनिकाल दे दिया जायेगा।'

अब वह युवक कहाँ जायेगा? अपने ही घर से उसे बेदखल कर दिया गया, तो फिर चाचा-मामा उसे क्यों पनाह देंगे? पूरे गाँव में उसकी थू-थू हो गई। क्या यह सजा बरदास्त करने की उसमें हिम्मत थी? क्या हिम्मत रखता? उसके तो छक्के छूट गये।

तुरंत दीनहीन बनकर नगरसेठ के वहाँ जा पहुँचा और नाक रगडते हुए बोलने

लगा कि, 'सेठजी ! मेरी बडी भूल हो गई है। मुझे माफ कर दो। अब जीवन में कभी भी ऐसी कोई क्रिया नहीं करूँगा।'

सेठ बोलते है : 'निकल जा नालायक ! गला काटकर अब माफी माँगने आया है? हमारे तारणहार परमात्मा की मजाक हमें सुननी पडे, यह तो हमारी गर्दन कट जाने से भी बदतर है। हमारा गला ही कट चूका है, तो माफी प्रदान करने हेतु हम जीवित ही नहीं है, तो तुझे कैसे माफी देंगे? उठ और चला जा यहाँ से।'

क्या वह युवक चला जायेगा? कैसे जा पायेगा? सेठ के पाँव पकडकर आक्रंद करता है और पुन: पुन: माफी की भीख माँगता है। कहता है : 'मैं बडा गुनहगार हूँ, किन्तु मुझे माफ करो, मुझ पर दया करो।'

सेठ कहते है : 'माफी? तेरे कटुवचनों को पूरे गाँव ने जाना है और माफी मैं अकेला कैसे दे दूँ? जा और हर घर में जा कर माफी माँग।'

युवक : 'जी सेठजी ! हर घर में माफी माँगने जाऊँगा। भूल की कबूलात भी करूँगा, किन्तु आप मुझ पर दया करो।'

सोचो, क्या वह युवक अब जीवनभर कभी धर्म की मजाक बना पायेगा? पर इस तरह कब झूक गया? जब चमत्कार मिला तब। नगरसेठ भी ऐसा कब कर सके? उस मश्करे युवक के पक्ष में कोई नहीं था, तब ही ना?

'अब बोल दिया, तो इसमें इतना हो-हा क्यों मचाना?' ऐसे वचन के साथ उसकी दलाली करनेवाले परिवारजन या दया के देवता प्रगट हो गये होते तो? किन्तु कोई भी इन्सान उस युवक के पक्ष में बोलनेवाला नहीं था, तभी तो नगरसेठ सही सबक सिखा सके और उस युवक के जीवन की दशा और दिशा ही बदल गई।

यहाँ 'पत्थर में परमात्मा !' इस प्रकार जिनमूर्ति की, जिन की और जिनभक्त संघ का तमाशा बनानेवाले को कोई लाठी दिखानेवाला है? किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि इस प्रकार घोर पाप से कठोर दंड में कर्म की लाठी भवांतर में लगेगी, तब उस लाठी की मार असह्य होगी। शास्त्र कहते है कि,

'जिणपूआ विग्घकरो...' अर्थात् जिनपूजा में अंतराय करनेवाला घोर लाभांतराय, भोगांतराय, वीर्यांतराय आदि कर्मों का बंध करता है। उन अंतराय कर्मों के

फल में क्या प्राप्त होगा? स्वयं को जो इष्ट वस्तु का लाभ और मनपसंद सुख के भोग एवं वीर्य की कामना है, वह प्राप्त नहीं होगा।

तभी तो, उत्तम आत्माओं को इस प्रकार के कोई अंतराय होने पर वह समझ जाते कि, 'पूर्वभव में जिनभक्ति में कमी रखी है या फिर अन्य को अंतराय किया है, तभी यह स्थिति है। अत: उस खामी को दूर करूँ, स्वयं जिनभक्ति करूँ और अन्य को भी प्रेरणा करूँ।' वह समझते है कि,

पूजा में विघ्न से अंतरायकर्म का बंधन हो, उसका हेतु :

प्रश्न : जिनपूजा में अंतराय करने से वह इष्टलाभ-सुखभोग इत्यादि में अंतराय क्यों होते है?

उत्तर : इसलिए कि, सामनेवाला यदि जिनेश्वर भगवंत की पूजा-भक्ति करता, तो उसे वह पुण्यलाभ की प्राप्ति होती, जिसके कारण इष्ट का लाभ हो, सुखभोग प्राप्त हो। अत: स्पष्ट है कि, यदि हम उसकी जिनपूजा में अंतराय करते है, तो उस पूजा से उस आत्मा को प्राप्त होनेवाले इष्टलाभ, सुखभोग में अंतराय किया। तो फिर हमारे लिए भी उसमें अंतराय होगा ही। वह लाभादि की अप्राप्ति करवानेवाले अंतरायकर्मों का बंधन हो, इसमें आश्चर्य क्या? कुदरती हिसाब है कि,

अन्य के सुख छीनने पर आपका सुख भी नष्ट होगा।

फिर वह सुख छीनने का कार्य सीधे तरीके से करो या टेढे तरीके से; किन्तु सुख छीनने पर आपका सुख भी छीना जायेगा; अर्थात् आपके सुख में अंतरायकर्म तैयार हो जायेंगे।

किसीकी जिनपूजा रोकने का कार्य होता है, उस कार्य में यह पूजा रोकनेवाला जीव निमित्त बना। सीधी तरह अन्य के सुख-लाभ लूँटनेवाला नहीं, पूजा में विघ्न करने द्वारा वह रोकनेवाला, सुख-लाभ लूँटनेवाला। एक प्रश्न होता है कि,

दीक्षा देनेवाले सुख नहीं लूँटते :

प्रश्न : तो, इस प्रकार तो साधु यदि किसीको दीक्षा प्रदान करें, तो क्या उसे संसार के सुखभोग से वंचित करके अंतराय कर्म का बंध करते है?

उत्तर : नहीं, साधु तो उसे वैराग्य प्रदान करते है। संसार के भोगसुख रागादि और हिंसादि पाप करवानेवाले होने से भवचक्र में भटकाने का कार्य करते है। अत: जीव स्वयं उसे भयंकर समझकर उससे निर्वेद प्राप्त करके स्वेच्छा से उसका त्याग करता है और उच्च चारित्र जीवन की प्राप्ति करता है, रागादि-हिंसादि पापों से रहित दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रयी की आराधना का महाउत्तम जीवन जीता है।

इस स्थिति तक पहुँचाने हेतु दीक्षाप्रदाता गुरु ने उसे सुखभोग से वंचित किया, यह नहीं कह सकते। 'बिचारे के भोगसुख छीन लिए' यह भी नहीं सोच सकते। वास्तविकता से तो वह चारित्र ही, जब तक उसे जीवन में सर्वकर्मक्षय करके मोक्ष तक जाने की ताकत ना हो तब तक, उच्च पुण्यबंध करके स्वर्ग सुखभोग को प्रदान करता है।

यद्यपि देवताई सुखभोग भी उपादेय नहीं है, किन्तु जब तक आप में वीतरागचारित्र तक पहुँचने का सामर्थ्य नहीं है, तब तक कर्मसत्ता आपको दुर्गति-दु:ख-दारिद्र में भी नि:सहाय नहीं छोड देगी, आपके सरागचारित्र के प्रताप से उच्च देवगति प्रदान करेगी, असंक्लिष्ट सुखभोग प्रदान करेगी। वह सुखभोग जिसमें आपको रागादि का संक्लेश न हो, अपितु विरक्त दशा प्रवर्तमान रहे। चारित्र यह कार्य करता है।

तब जिनपूजा में अंतराय के द्वारा जीव को पाप से भरपूर गृहस्थजीवन में जिनपूजा द्वारा परमात्मा के चरणों में जो भी तन-मन-धन यथाशक्ति अर्पित करने का अवसर था, और उसके द्वारा उत्तम पुण्य उपार्जन करने का अवसर था, वह गँवाता है। और उसे गँवाकर उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले सुख-भोग भी गँवाता है। अत: वह सुखभोग के अंतराय कर्म अर्थात् लाभांतराय, भोगांतराय आदि कर्म का बंधन होना सहज है।

मानवजीवन में अनेकानेक हिंसादि और विषय-विलासादि के जालिम पापों में से थोडी सी भी पीछेहट करवानेवाली जिनपूजा है। जिनपूजा में बैठने से उतना वक्त उन जालिम पापों से बचा जा सकता है, जो जीव में वीतरागता के बीज बोते है, वैराग्य का पोषण करते है।

यदि सिनेमा की अभिनेत्रीयों के श्रृंगारी वेश-हरकते बतानेवाला चित्र देख-देख कर राग का पोषण होता है, तो क्या जिनमूर्ति में वैराग्य का पोषण नहीं हो सकता?

कहते है : 'जिनमूर्ति का दर्शन योग्य है, किन्तु जडमूर्ति का पूजन क्यों?'

पूतले पूजे जाते है, जिनमूर्ति नहीं? :

यह कहनेवाले को ज्ञात नहीं है कि, 'अरे ! 'जड' बोलते वक्त जिह्वा कैसे कार्यरत रह सकती है?' मूर्ति किनकी है? तीन लोक के नाथ और हमारे अनंत उपकारी की है।

राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी जैसे आर्यसंस्कृति के रक्षक भडवीर के स्मारक में नमस्कार और पूजन करके देशभक्त सुभट देशसेवा और संस्कृतिरक्षा की भव्य प्रेरणा प्राप्त करते है। यदि इन स्मारक-मूर्ति की पूजा ऐसी प्रेरणा दे सके, तो वीतराग परमात्मा की मूर्ति का पूजन वैराग्य-उपशमभाव की प्रेरणा नहीं दे सकते? क्षत्रियाणी को उसके पति की प्रतिकृति तो क्या, पति की मोजडी की पूजा भी उसे शीलरक्षा का सत्त्व प्रदान करती है।

जो आत्मा मानसशास्त्र समझता है, उसे यह तमाम तथ्य समझना आसान है। मानसविज्ञान का अल्प ज्ञान भी ना हो, वह इन तथ्यों को नहीं समझ सकता। मूर्तिपूजा का विरोध, व्यवहार-धर्मक्रिया का विरोध आदि विरोध करनेवाले अल्पमति जीव मानसविज्ञान का ज्ञान ना होने के कारण घोर पाप करके स्वयं तो डूबते है, अन्यों को भी डूबोते है।

मूर्तिपूजा के लाभ :

अत: समझ लो कि, मूर्तिपूजा और व्यवहार धर्मक्रियाओं में महान मनोविज्ञान अपना कार्य कर रहा है,

(१) उस मूर्ति और उस क्रिया के आलंबन से जीवन में अप्रशस्त भाव नष्ट हो कर सुंदर प्रशस्त भाव हृदय में जागृत होते रहते है।

(२) मूर्तिपूजा में जिनाज्ञापालन का महालाभ है।

(३) पूजा में किए जाते धनव्यय में उपकारी परमात्मा के प्रति कृतज्ञभाव अदा होता है। मन में कृतज्ञभाव का पोषण होता है।

परमात्मा के प्रति कृतज्ञता अदा होती है, क्या यह कोई सामान्य सुकृत है? उसे दुष्कृत्य कहना चाहिए या महासुकृत?

जिन परमात्मा के अचिंत्य प्रभाव से यह उत्तम मनुष्यभव और अन्य अनेक पुण्याई की प्राप्ति हुई है, अब उन परमात्मा की मूर्तिपूजा की बात होने पर यह कहना है कि, 'नहीं, उस पूजा में मैं पैसों की बरबादी नहीं करूँगा, इससे तो अच्छा है कि मैं सामायिक करूँ, तप करूँ;' तो उस बचे हुए पैसों को कहाँ रखना है? कहो ना कि, जात भोग-कुटुंब भोग में !

'पत्नी की काया पर हीरा-माणिक या सोने के आभूषण लगाना उत्तम लगता है, किन्तु भगवान की प्रतिमा पर आभूषण लगाना व्यर्थ सा लगता है !' कैसी अज्ञानदशा ! यह ज्ञात नहीं है कि,

जीव आभूषण से श्रृंगारीत स्त्री को देख-देखकर पापों से लिप्त होता है और अन्य लोग भी उस स्त्री को देखकर भी पाप का बंध करता है; जबकि भगवान को आंगी-आभूषण पूजा करके स्वयं तो वीतराग के प्रति भाव और पुण्य बढाता है, साथ अन्य लोग भी दर्शन करके महान शुभभाव और पुण्य का उपार्जन करते है।



२. भिक्षुक : राज्य का उत्तराधिकारी?

उस भिक्षुक ने साधुवचन से हर मंदिर जा कर वीतराग प्रभु के मात्र दर्शन किये, किन्तु वह पुण्य उपार्जित किया कि भवांतर में मरणांत उपद्रव होने के बावजूद रक्षण प्राप्त किया और अंत में राज्य समृद्धि प्राप्त की।

उसे जो चार-चार बार मरणांत आक्रमण से बचाव प्राप्त हुआ है, उसके लिए तो यही कहना पडेगा कि उसमें स्वयं की चतुराई का कोई योगदान नहीं रहा, किन्तु पूर्व के प्रभुदर्शन के पुण्य ने ही उसे बचाया है।

जानते हो कि कैसे कैसे प्रसंग में चमत्कारीक बचाव हो गया !

भिक्षुक प्रभुदर्शन से क्या क्या प्राप्त करता है? :

वह भिक्षुक प्रभुदर्शन के पुण्य से मानव अवतार प्राप्त करता है और ब्राह्मण पुरोहित का पुत्र बनता है। पाँच-छः माह का होने पर एक बार ब्राह्मण उसे राजा के पैरों में झुकने के साथ-साथ बालक को भी राजा के पैरों में झुकाता है।

राजा देवकुंवर समान इस बालक को देखकर प्रसन्न हो जाता है। किन्तु वहीं पर राजा का निष्णात ज्योतिषी विद्यमान था, वह उस बालक की रेखा देखकर आश्चर्यचकित हो कर बोल उठता है : 'वाह !'

राजा पूछता है : 'क्यों ज्योतिष महाराज ! क्या हुआ?'

ज्योतिषी कहता है : 'महाराज ! यह बालक बडा ही भाग्यवान है। आपकी गादी का वारिस बनेगा !'

राजा को भारी आघात हुआ कि, 'क्या? यह दक्षिणा-भीख माँगकर खानेवाले ब्राह्मण का पुत्र मेरा वारिस?' मेरी प्रतिष्ठा तो चकनाचूर हो जायेगी कि, 'यह कैसा सत्त्वहीन राजा है, जो उसके पुत्र में राजा बनने का सौभाग्य नहीं जगा

सकता, जिसके कारण कोई वारिस ना मिलने पर एक भिखारी उस राजगादी का वारिस बन बैठा !'

राजा के अंतर में तीव्र क्रोध पैदा होने लगा, किन्तु बाहर से प्रसन्नता का नाटक दिखाता है कि, 'अच्छा? वह राजा बनेगा? वाह क्या बात है !'

भीतर में खेद होने के बावजूद बाहर से प्रसन्नता दिखाना, यह विवेक है या कुटिलता? :

राजा ने क्या यह विवेक का भाव जताया? नहीं, कुटिलता ही दिखाई। कैसी कुटिलता? यही कि उसके मन में यही विचार हुआ होगा कि,

'इस बालक को मेरा वारिस ना होने दूँ। यह तो मेरे लिए विषवृक्ष के समान है, यह वृक्ष बडा हो, उसके पहले ही इसे उखाड दूँ। इस बालक को अभी मरवा दूँ, फिर यह कैसे मेरी गादी पर आसीन होगा?

किन्तु यदि अभी नाराजगी व्यक्त कर दी और बाद में यह बालक लापता हो गया, तो उसके पिता के साथ-साथ यहाँ उपस्थित तमाम जनों को यही वहम होगा कि राजा को नाराजगी हुई थी, अत: उसीने बालक को लापता किया होगा? अत: अभी तो मात्र प्रसन्नता ही दिखानी पडेगी, और कुछ दिनों में ही इस बालक की समस्या का समाधान करवा दूँगा।'

सोचो, राजा के हृदय में तो यही विचार चल रहे थे और बाहर से अन्य सभासदो के साथ प्रसन्नता का स्वांग रच रहा था, यह विवेक है या कुटिलता है?

अत: हमें भी अपने जीवन में यह ध्यान रखना है कि कभी मन में कुछ हो और बाहर विवेक की खातिर कुछ ओर दिखावा करना पड़े, उस वक्त कुटिलता-माया में ना फँस जाये। तब, पूछो कि,

प्रश्न : मन में कुछ और बाहर कुछ, यह तो माया हो ही गई। फिर माया में न फँसने का और विवेक गुण बरकरार रखने का कार्य बाकी ही कहाँ रहा?

उत्तर : शुद्ध विवेक रखना इस प्रकार होगा : यदि अंतर में औचित्यदृष्टि, धर्मदृष्टि, स्व-पर की हितदृष्टि रखकर भीतर में कुछ अलग विचार होते हुए भी बाहर कुछ अलग वर्तन करना पडे तो यह विवेक है, कुटिलता नहीं।

उदाहरण : आप व्यापार पर हो, और एसोसीएशन-सोसायटी के लोग कोई प्रसंग मनाने हेतु आपके पास चंदा लेने आ पडे, उस वक्त आपका धर्मी हृदय इस प्रकार के मनोरंजक त्यौहारों में श्रद्धा नहीं रखता, अत: उन कार्यों में धनव्यय को निरर्थक समझता है। किन्तु एसोसीएशन-सोसायटी के एक सभ्य होने के नाते औचित्य की द्रष्टि से चंदा-अनुदान देना पडता है। तो यह माया नहीं, विवेक है। पूछो कि,

प्रश्न : इसमें विवेक कैसे होगा? इस प्रकार के औचित्य का पालन पाप का पोषण ही तो हुआ ना?

पाप के पोषण से भी अधिक है धर्मरक्षा का पोषण :

उत्तर : पाप के पोषण से भी बढकर है धर्मरक्षा का पोषण। और धर्मरक्षा करना विवेक है।

वहाँ अनुदान देते वक्त विचार होता है कि, 'यदि मैं यह अनुदान नहीं दूँगा, तो यह लोग मुझे कंजूस समझकर मेरे धर्म की निंदा करेंगे कि, 'देखो ! इन लोगों का धर्म ही ऐसा है कि मक्खी को भी चूसने की कला सिखाता है।' इस प्रकार धर्मनिंदा ना हो, इस द्रष्टि से अंतर से ना होने के बावजूद, बाह्य व्यवहार से अनुदान देने की उदारता करें यह विवेक है, औचित्य है। इसे माया नहीं कह सकते।

औचित्यदान से धर्म की वाहवाही :

पूर्व के काल में बडे पयमाने पर धर्मकार्य करने के पश्चात औचित्यदान में हजारो रुपये लिखवाये जाते थे।

राणकपुर का भव्य मंदिर बनवानेवाले धरणशाह सेठ के भाई ने अचलगढ पर मंदिर बनवाया था। उसकी प्रतिष्ठा करवाने हेतु छ:री पालक विशाल संघ ले कर पधारे। भव्यातिभव्य प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ। तत्पश्चात उस काल के एक लाख रुपये याचकों को दान में दिये। क्यों? इस प्रकार के कार्य से जैनेतरों में भी जैनधर्म की वाहवाही होती है।

पेथडशा मंत्री ने चडावे में दिगंबरो के सामने ५६ घडी स्वर्ण की बोली लगाकर गिरनार तीर्थ पर श्वेतांबरो का अधिकार जीवंत रखा। तत्पश्चात उतना ही स्वर्ण

दादा के भंडार में भी रखकर चार घडी स्वर्ण याचको में दान स्वरूप दिया।

सोचो, इन दोनों महापुरुषों ने जो दान याचकों को दिया, वह पात्र में, सुपात्र में या परमपात्र में दान हुआ? नहीं, किन्तु धर्म की जयकार करवानेवाला औचित्यदान हुआ।

याचकों को और अन्य लोगों को भी यह विचार हुआ कि, 'अरे ! इनका धर्म कितना उच्च है जो ऐसे धर्मकार्य में लूखी-सूखी खुशहाली नहीं, अपितु उदारता से भरपूर खुशहाली की शिक्षा प्रदान करता है !'

इस प्रकार उन लोगों को भी जिनधर्म के प्रति जो आकर्षण, रुचि उत्पन्न होती है, उनके मन में धर्मबीज का आधान होता है, वही जैनधर्म की जयकार है।

जैनधर्म की जयकार अर्थात् क्या? :

'बोलो जैनधर्म की जय' इस प्रकार जो जैन बोलते है, क्या वह जैनधर्म की जयकार है?

नहीं। दान-शील-तप आदि धर्म पर श्रद्धारहित नामजैनों के हृदय पर उस धर्म का विजय और जैनेतरों के हृदय पर जैनधर्म का प्रभाव हो, आकर्षण हो, वही जैनधर्म की जयकार है।

मन पर, हृदय पर धर्म का विजय अर्थात् मन में-हृदय में धर्म का आकर्षण, रुचि, प्रशंसा, अहोभाव नहीं था, वह जागृत हो अर्थात् इन आकर्षण स्वरूप धर्मबीज की हरियाली प्रगट हो।

इस धर्म के आकर्षण-प्रशंसा स्वरूप धर्म की जयकार कब होगी? कोई विशिष्ट तप किया हो, विशिष्ट शील-संयम का पालन किया हो, विशिष्ट दान दिया हो, तब।

धर्म की जयकार करवानेवाला विशिष्टदान यानि क्या? मात्र बडे खर्च करके कोई मंदिर-प्रतिष्ठा उत्सव करना ही नहीं, बल्कि उसके साथ-साथ विशाल औचित्यदान रखना, वह है विशिष्टदान। जिसके कारण वहाँ के अजैन लोगों में भी धर्म की जयकार, धर्म का विजय हो।

अचलगढ मंदिर निर्माण और प्रतिष्ठा करवानेवाले इस बात से भलिभाँति

परिचित थे, ५६ घडी स्वर्ण प्रदान करके गिरनार तीर्थ का अधिकार प्राप्त करनेवाले भी इस बात से परिचित थे कि,

औचित्यदान हेतु कैसी समझ? :

औचित्य महादान से जैनधर्म की वास्तविक जयकार होती है। अर्थात् अजैन के मन में जैनधर्म के प्रति आकर्षण होता है। धर्मबीज अंकुरित होते है। यह कार्य 'गरीबी में आटा गिला' जैसे निर्धन भूखे लोगों को वरघोडा-जूलुस आदि का कोरा दर्शन करवाकर नहीं होता, उन क्रियाओं के साथ-साथ उन गरीबों का पेट भरने से ही यह धर्मबीज स्फुरित होते है। अत: प्रतिष्ठा और तीर्थरक्षा में लाखों-करोडों का व्यय करने के पश्चात उचित दान में भी लाखों रुपये लिखवाये। 'लाला ! लाख तो होने दे सवा लाख', 'घाव के साथ निशान मुबारक' यह समझ थी।

आप कहीं किसी प्रतिष्ठा-ध्वजा आदि धर्मकार्य के चडावे में लाख-सवालाख का लाभ ग्रहण करने के पश्चात इस प्रकार कोई उचित दान करते हो, कि जिससे अजैनों में भी धर्म की जयकार हो? उपधान, यात्रा, संघ आदि में खर्च करने के बाद धर्म की सच्ची जयकार करवानेवाला यह विशाल उचितदान की जानकारी है? क्या वह उचितदान आपको भारी पडता है?

धर्मकार्य में लाख के बदले सवालाख लग जाते, तो भी आप देनेवाले थे ना? तो फिर लाख में कार्य पूर्ण हो जाने के पश्चात १०-२० हजार उचितदान में क्यों नहीं दे सकते? क्या आप इतने काबिल नहीं हो? या फिर यह दान व्यर्थ लगता है?

औचित्यदान को जो व्यर्थ समझता है, उसने जैनधर्म को समझा ही नहीं।

अल्प सुकृत में भी औचित्यदान :

मात्र विशाल सुकृतों में ही यह बात लागु होती है, ऐसा नहीं है। अपितु छोटे-छोटे सुकृत में भी यह बात लागु हो सकती है।

- अहमदाबाद में हरकोर सेठानी जब भी जिनालय दर्शन हेतु जाते, तब प्रतिदिन भिक्षुकों में द्रव्य का दान करते रहते।

- परमात्मा की आंगी में यदि रु.३१) का खर्च किया, तो उस पर ५ रुपये औचित्यदान में देना भारी हो सकता है क्या?
- अरे ! अन्य किसीको नहीं, बल्कि पूजारी को ही वह ५ रुपये प्रदान करके तो देखो। उसके मन में भी होगा कि, 'वाह ! यह धर्म कितना महान है, जो ऐसी उदारता सिखाता है !'
- २०० रुपये खर्च करके पूजा पढाने के बाद उसके उपर २५ रुपये औचित्यदान में प्रदान करना भी भारी पड सकता है भला?
- मंदिर के आसपास जैनेतर घरों में ५-५ मिठाई के पैकेट भेजकर तो देखो। मंदिर के द्वार पर एकत्रित होनेवाले जैनेतर बालकों को विशिष्ट प्रभावना प्रदान करके तो देखो। फिर देखो उनके मन में जिनधर्म के प्रति सम्मान का, आदर का भाव होता है या नहीं? यही वास्तविक जिनधर्म का जयकार है।

इतना नियम ग्रहण कर लो कि, 'जो भी सुकृत होगा, उसके कुल खर्च की १० प्रतिशत राशि औचित्यदान में देंगे।' क्या यह भारी होगा? उदा. यदि १०० रुपये का खर्च किया है, तो ११० रुपये का खर्च करना क्या भारी हो जायेगा? तो, शायद पूछोगे कि,

प्रश्न : वह तो भारी नहीं पडेगा। किन्तु मान लो कि उपधान, प्रतिष्ठा जैसे कार्यो में रु.७०,००० खर्च दिये, तो उपर रु.७,००० का खर्च करना भारी नहीं होगा क्या?

उत्तर : तो क्या रु.७०,००० का खर्च किया, वह कंगाल हो कर किया? संपत्ति बिलकुल नष्ट कर दी क्या? वह बात जाने दो। ७०,००० का खर्च करनेवाला ज्यादातर दोगुना-तीन गुना-चार गुना संपत्ति दबाकर ही बैठा है। अरे ! दस गुना ज्यादा संपत्ति रखकर ही कार्य करता है। यह भी हकीकत है कि, कार्य करने वक्त ७०,००० के ८०,००० हो गये, तो उसकी तैयारी भी रखता ही है। उस व्यक्ति को ७,००० का खर्च करने में क्या दिक्कत हो सकती है?

प्रश्न : किन्तु इतना ज्यादा धन औचित्यदान में जैनेतरों में खर्च करने से क्या लाभ होगा? क्यों इतना ज्यादा धन फैंक दे?

उत्तर : फैंक देना मत कहो। जैनधर्म के जयकार में पूंजी का निवेश करना है। उसमें से जैनेतरों के हृदय में जैनधर्म के प्रति मान, आकर्षण पैदा होगा। उनमें बोधिबीज रौपा जायेगा, जिसके कारण यहाँ नहीं, तो परभव में भी उनमें जैनधर्म रूपी फसल पैदा होगी। इस महान लाभ के सन्मुख ७००० की राशि क्या महत्त्वपूर्ण है?

औचित्यदान की महिमा समझों – औचित्यदान तो बोधिबीज का महादान है।

औचित्यदान से धर्म की निंदा रुकती है।

बात-बात में औचित्यदान करना सिखो, फिर देखो कि इस क्रिया से आपका धर्मउत्साह भी कैसा बढ जाता है !

बात यह थी कि, बाजार में ऐसोसिएशन की तरफ से चंदा लिखने आये, उसमें धर्म का कार्य ना होने के बावजूद देना पडा, तो यह समझकर कि, 'नहीं दिया, तो यह लोग मुझे कंजूस समझकर मेरे धर्म की निंदा करेंगे, अत: भूतों को भगाना अच्छा' यह समझकर दे, वह औचित्यदान है।

अत: धर्मनिंदा को रोकने हेतु मात्र बाह्य व्यवहार से दान दिया, तो क्या इस घटना में 'अंदर अलग, बाहर अलग' इस प्रकार माया की? नहीं, माया नहीं, औचित्य का पालन किया। माया तो वहाँ होती है, जहाँ धर्म का कोई लक्ष्य ही नहीं है, धर्म की द्रष्टि ही नहीं है।

राजा वह पुरोहितपुत्र स्वयं का वारिस बननेवाला है, यह सुनकर उसके भीतर में तीव्र द्वेष-नाराजगी व्याप्त हो गई और उसकी हत्या तक का विचार भी कर लेता है, किन्तु बाह्य आनंद व्यक्त करता है कि, 'वाह ! अति भाग्यवान बालक है।' यह माया है। कहो कि,

जो भीतर अलग और बाहर अलग उसमें फलस्वरूप धर्म हो, धर्मरक्षा हो, धर्म प्रभावना हो, तो उसमें माया का पाप नहीं गिना जा सकता।



३. हत्या का प्रयास !

राजा को भीतर में कुछ अलग और बाहर कुछ अलग दिखाने में फलस्वरूप धर्म नहीं, किन्तु निर्दोष बालक को मार डालने के कुटिलबुद्धि ही है। बाहर तो दिखावा कर दिया कि, 'वाह ! उत्तम ! यह बालक गादी पर आयेगा, बडा भाग्यशाली है !'

किन्तु भीतर में तो यह आग भभकने लगी कि, 'यह भिखारी का पुत्र मेरा वारिस कैसे बनेगा? इसको तो मरवा दूँगा।' यह सोचते हुए कुछ ही दिन में एक हत्यारे को तैयार किया और चतुराईपूर्वक संध्याकाल में उसे उठाकर वन में ले जाकर इस हत्या को अंजाम देने की बात कही।

यहाँ तीन लोग है। राजा, हत्यारा और बालक। अब देखो कि तीनों के तत्त्व क्या कार्य निभाते है ! राजा के पास राजसत्ता है, वह राजसत्ता उसे बेफिकराई से स्वयं की निर्दोष प्रजा को ही मार डालने हेतु किस प्रकार अंध बनाती है ! कैसे क्रूर और घोर पाप में निर्भय बना देती है।

सत्ता बेकार है, क्योंकि अवसर होने पर वह अतिहीन कृत्य करवा देती है।

आप कहोगे कि, 'सत्ता से उत्तम कार्य भी हो सकते है ना?' किन्तु आपको यह ज्ञात नहीं है कि, वह जब हीन कृत्य करवाती है, तब वह कृत्य भयावह राग या द्वेष से संक्लिष्ट होता है, पाप में इतनी निर्भयता पैदा कर देता है, और वह पाप भी ऐसा अधम होता है कि, वह अन्य तमाम उत्तम कार्यों को नष्ट कर देता है।

रावण क्यों मरा? मरकर चौथी नरक में क्यों गया? राजा उत्तम था, अच्छे कार्य करनेवाला भी था, किन्तु सीता के मोह में गिर पडा और बाद में सीता के शील की मक्कमता में वह मोह उतर भी गया। सीता को पुनः लौटाने का निर्णय भी कर दिया, किन्तु राजसत्ता के कारण अभिमानग्रस्त हुआ कि,

'सीता को ऐसे ही नहीं जाने दूँगा, राम-लक्ष्मण को युद्ध में हराकर यहाँ पकड लाऊँ और राजसभा में उन्हें सीता का दयादान दूँ।'

बस, इसी अभिमान में उसने युद्ध किया और अंत में मृत्यु प्राप्त कर नरक में जा पहुँचा ! कहाँ गये अन्य उत्तम कार्य? अन्य अच्छाईयाँ? राजसत्ता के कारण एक हीन कृत्य ने अन्य उत्तम कर्मो को नष्ट कर दिया। राजसत्ता बेकार ही है।

यहाँ राजा राजसत्ता के पाप से निर्दोष बालक को मार डालने हेतु कातिल को तैयार करता है। राजा में यह अभिमान और क्रूरता का तत्त्व !

वह कातिल भी लोभवश ऐसा हीन कृत्य करने हेतु तैयार हो जाता है, वह उसमें लोभतत्त्व !

धन भी व्यर्थ, काम भी व्यर्थ। वह लोभ को पैदा करके अवसर होने पर विश्वासघात, हत्या, उपकारी पर अपकार जैसे हीन कृत्य करवाता है।

कोणिक ने राज्यसंपत्ति के लोभ में उपकारी पिता श्रेणिक को बंदीवान बना दिया और एक सेचनक हाथी व दिव्यकुंडल के लोभ में दादा चेडा महाराज से जंगी युद्ध कर दिया।

आज भी देखा जाता है कि, धन के लिए कैसे-केसे हीन कृत्य हो रहे है ! झूठ, अनीति, माया, विश्वासघात, महाकर्मादान के व्यापार आदि हो रहे है।

'आज डोक्टर बनने पर बडी कमाई' इस लोभ में जैन की संतान भी जीवित पंचेन्द्रिय मेढक और अन्य विकलेन्द्रिय आदि जीवित जीवों में सुई डाल-डालकर साधनों से उनकी चमडी आदि अंगों को उखाडकर उसके शरीर में भीतर का हलन-चलन देखते है ना?

क्या वह अपने शरीर पर इस प्रकार के प्रयोग करवाने हेतु तैयार होंगे? मात्र एक बार भी शरीर में गहराई तक सुई लगाकर चमडी एवं भीतर के अंगो को बाहर निकालकर देखने हेतु तैयार होंगे? नहीं, तो उस जीव को अनेक बार ऐसी पीडा दी जाती है। क्या यह हीन कृत्य नहीं है? धन का लाभ भी व्यर्थ ही है।

काम भी व्यर्थ है। कामवासना में अंध मानव पत्नी को खुश रखने हेतु माता-पिता से द्रोह करता है। महा उपकारी माता-पिता पर भी अपकार करता है !

राजा को सत्ता ने अंध बनाया, हत्यारे को धन ने अंध बनाया।

सत्ता और धन यह दोनों तत्त्व बेकार है, किन्तु धर्म तारणहार तत्त्व है।

हत्या का प्रयास !



४. परमात्मा बचायें उसे कौन मारे?

हत्यारे का विचारपरिवर्तन :

वह बालक तो पूर्व से ही देवदर्शन के धर्मतत्त्व की शरण ग्रहण कर के आया है, अत: देखो, अब वही धर्मतत्त्व यहाँ उस बालक को किस प्रकार बचा लेता है !

वह हत्यारा संध्याकाल के वक्त बालक को उसके घर के आगे अकेला देखकर कुछ प्रलोभन दे कर उठा ले जाता है।

हत्यारा त्वरित नगर के बाहर भाग जाता है। अँधेरा हो गया था किन्तु चांदनी का प्रकाश फैल रहा था, उसमें उस बालक का मुख देखता है। तब उसके मन में विचार प्रगट होता है कि,

'अरे वाह ! कितना सुंदर मुख है ! कितना निर्दोष चेहरा है ! इस बालक ने भला राजा का क्या बिगाडा होगा? ऐसे निर्दोष बालक को मैं कैसे मार सकता हूँ? राजा के मन में कुछ भी हो, किन्तु मैं इस निर्दोष जीव को मार डालने का घोर पाप नहीं कर सकता। इसे यहीं पर रख देता हूँ, राजा को कह दूँगा कि आपका कार्य हो गया।'

उस हत्यारे के मन में यह विचार कैसे हुआ? राजा ने जीवित बालक को मार डालने का कार्य जिसे दिया होगा, उस मानव को देखकर ही ना? ऐसे क्रूर, घातकी जैसे मानव के सिवाय नन्हें से बालक को कौन मार सकता है? वह मानव यहाँ दया करता है कि, 'कैसा निर्दोष बालक है ! इसे मैं कैसे मार सकता हूँ?' यह दया का विचार घातक इन्सान को?

उस हत्यारे को इस प्रकार दया के विचार कौन करवा रहा है? :

बालक ने तो कोई विनती नहीं की, कोई रुदन नहीं किया। कोई गुरु भी उस हत्यारे को नहीं मिले, जिनसे वह उपदेश ग्रहण कर सकता। तो दया का विचार किसने करवाया? कहो,

बालक के पूर्वभव में प्रभुदर्शन से निर्मित पुण्य ने उस हत्यारे के मन को दया से तरबतर कर दिया। उस पुण्य ने ही हत्यारे को गुप्त प्रेरणा दी कि हत्यारा उस बालक को उद्यान में माली के गृह के पास रखकर चला गया।

पुण्य भी कैसी चमत्कारीक सहायता करता है ! हत्यारे को भी दयालु बना देता है ! बडे राजा के आदेश को भी नजरअंदाज कर दिया ! यह पहली बार बालक का बचाव हुआ।

अब उसके बचाव का दूसरा प्रसंग देखते है :

माली घर के बाहर निकला और इस बालक को देखता है। उस रूपवंत बालक को देखते ही वह आकर्षित हो जाता है। उसके मन में यह विचार पैदा होता है कि, 'अरे ! यह बालक यहाँ कैसे आ गया? किसका होगा?' आसपास में नजर करता है, कोई दिखता नहीं है।

तब सोचता है कि, 'लगता है किसीने इस बालक को किसी कारणवश त्याग दिया है। पर मेरे लिए तो अच्छा हुआ। इसे मैं अपना पुत्र बनाकर रख लेता हूँ।'

मालन को आनंद – ब्राह्मणी को दुःख :

माली बालक को उठाकर घर में ले गया और उसकी पत्नी को देते हुए कहता है कि, 'यह ले, तू हमेशा फरियादें करती थी ना कि हमें कोई पुत्र नहीं है? यह ले, पुत्र मिल गया है। कैसा सुंदर देवपुत्र जैसा है ! यह पुत्र भगवान ने ही तेरे लिए यहाँ भेज दिया है। भगवान का उपकार मान कि अब तुझे नौ माह तक कुख में बालक का पोषण करने की मेहनत किये बिना ही पुत्र प्राप्त हो गया।'

माली की पत्नी के तो आनंद की कोई सीमा ही नहीं रही। तुरंत ही उस बालक को ग्रहण करके सिने से लगा लेती है, खूब प्यार करती है, परमात्मा का भी आभार मानती है कि, 'वाह रे मेरे दयालु भगवान ! कैसी आपकी दया है ! देवपुत्र जैसा सुंदर पुत्र दे दिया ! परमात्मा ! आपका भारी उपकार मानती हूँ।'

वहाँ ब्राह्मण के घर आहट होने लगी कि, 'हाय ! हमारा बालक कहाँ चला गया?' आसपास में जाँच करने के बावजूद ज्ञात ना हुआ कि बालक कहाँ है?

तब विचार करने लगे कि, 'क्या कोई श्वान उसे उठा गया होगा?' बस, आक्रंद करके सोचने लगे कि, अब पुत्र का सुख भी हमारे भाग्य में नहीं रहा।

यह भी बालक के कर्मों का परिबल है कि राजदरबार में कोई चर्चा ना हो, घोषणा ना करवाये, पूरे नगर में हाहाकार ना हो। सबकुछ बिना किसी चर्चा के खत्म हुआ। और वह बालक माली के घर बडा होने लगा।

मालनपुत्र के राजा होने की भविष्यवाणी :

वह बालक थोडा बडा हुआ तब एक दिन मालन राजा को पुष्प देने हेतु जाती है, तब उस बालक को भी अपने साथ ले जाती है और राजा के पैरों में नमस्कार करवाती है। उसी वक्त वह ज्योतिषी बालक को देखकर हर्षित हो कर कहता है कि, 'वाह ! यह तो राजयोगी बालक है !'

राजा पूछता है : 'क्यों ज्योतिषीजी, क्या हुआ? क्यों हर्षित हो गये?'

ज्योतिषी कहता है : 'महाराज ! यह बालक यहाँ का राजा बनेगा।'

राजा फिर से चौंक उठा और सोचने लगा कि, 'अरे ! यह क्या? यह मालन का पुत्र मेरा वारिस?' बाहर से प्रसन्नता दिखाने लगा कि, 'वाह ! यह तो बडा भाग्यवान है !'

किन्तु मन में तो विचारों की क्षुद्रता बढती जा रही है : 'अरे ! यह क्या हो गया? तो फिर ३-४ वर्ष पूर्व उस हत्यारे ने बालक को मौत के घाट नहीं उतारा होगा? यदि वह मर गया है, तो क्या यह नीचकुल का बालक मेरी राजगादी पर बैठेगा? तब तो मेरी आबरू खत्म ही हो जायेगी। और क्या मेरा प्रिय पुत्र मेरे पश्चात राजा नहीं बनेगा? यह असंभव है। इस बालक की हत्या करवा देता हूँ।'

मन की असत् विचारधारा मानव को किस तरह हीन बना देती है !

ज्योतिषी के सन्मुख विचारों में उभय से विपरीत विचारधारा :

राजा कैसी कनिष्ट अधमाधम विचारधारा में गरकाव हो जाता है ! निर्दोष बालक को मार डालना है। सद् विचारधारा में से यह कैसी भयावह असद् विचारधारा में राजा गिर पडा? क्यों? अपने ही मन की गलत विचारधाराओं के कारण।

ज्योतिषज्ञान यह कह रहा है कि, 'यह बालक राजा होगा।' अब यह कथन गलत है, तब भी यह विचार करना कि, 'यह राजा हो, वह बात उचित नहीं हैं' गलत है, क्योंकि राजा नहीं होगा।

सोचा कि, शायद वह राजा हो, और यदि वह ज्योतिष सत्य साबित हो, तो 'मैं उसे मार डालके उसे राजा ना होने दूँ' यह विचारधारा भी गलत है। इस प्रकार उभय से गलत विचारधारा उसे भयंकर विचारों में धकेल देती है।

मानव भी इस जीवन में विपरीत विचारधारा के चलते श्रेष्ठ से अधम विचारों की तरफ कितनी बार फिसल पडता होगा?

इस जीवन में विपरीत विचारधारा के कारण गलत विचारों में कैसी दशा? :

मन में मान लिया कि, 'यह मेरा भाई या चाचा-मामा मुझ से विरुद्ध मेरा अहित करते है, अत: उसके साथ तमाम रिश्ते तोड दूँ, उसके साथ संबंध रखना ही नहीं है।' यह क्या किया? गलत विचारधारा पर द्वेष का विचार।

विचारधारा गलत इसलिए है, क्योंकि वास्तविकता में वह जीव हमारे विरुद्ध ना भी हो, किन्तु स्वयं ही कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जहरीली द्रष्टि से या स्वार्थ की द्रष्टि से गलत भ्रमणाओं के शिकार बन गये हो। तो क्या यह विपरीत विचारधारा नहीं है?

उसकी परिस्थिति पूर्व में अच्छी होगी, तो वह कार्य में सहायक बनता था, किन्तु अब उसके संयोग बदल जाने के कारण वह हमारे कार्य में सहायक ना भी बन पाता हो, तब हमारा स्वार्थभंग होने के कारण हम मान लेते है कि, वह मेरे विरुद्ध बरत रहा है। या उसके विषय में कही कुछ गलत बातें सुनने पर मान लिया जाता है कि, वह मेरे विरुद्ध हो गया है। यहाँ शायद पूछेंगे कि,

पैसे से कितने प्रकार की जहरीली द्रष्टि? :

प्रश्न : पैसा बढने पर, पैसा जहरीली द्रष्टि करवाता है?

उत्तर : (१) हाँ, 'मेरे पास कोई दु:खीजन कुछ माँगने हेतु आ गया तब?' यह भय होना भी जहरीली द्रष्टि है। वह 'मेरी संपत्ति परोपकार में कैसे व्यय हो, सुकृत में कैसे व्यय हो' यह अमृतमय द्रष्टि नहीं आने देता।

(२) कुछ पैसे बढ जाने पर अन्य ज्यादा कमानेवाले को देखकर इर्ष्या होती है कि, वह कैसे मुझ से ज्यादा धनोपार्जन कर लेता है? कुछ तो गडबड करता ही होगा। यह जहरीली द्रष्टि है। जिसके कारण प्रमोदभाव की अमृतमय द्रष्टि प्राप्त नहीं होती।

प्रमोदभाव का विचार यही है कि, 'भले ही वह ज्यादा कमा रहा है। मेरा भाई ही तो है। उसके पुण्य से वह कमा रहा है। मेरा पुण्य कमजोर है, अत: मुझे कम मिले, वह युक्तियुक्त है।' इसमें इर्ष्या करने पर पूर्व के पुण्यकर्म की स्थिति कम होती है और नया पापबंधन होता है वह अलग। नियम है :

अशुभभाव जैसे
(१) अशुभ कर्म बंधन करवाते है,
(२) पूर्वबद्ध शुभकर्म को अशुभ में परिवर्तित कर देते है, संक्रमण करते है, वैसे
(३) जमा रहे शुभकर्म की स्थिति, रस को कमजोर करते है, स्थिति-रस की अपवर्तना करते है।

कषाय के भाव क्रोध-अभिमान-माया-लोभ, ममता, तृष्णा, जड पुद्गल का राग, पत्नी-पुत्रादि का राग, वैर-विरोध, मनमुटाव, ईर्ष्या, निर्दयता, अविनय आदि भाव अशुभभाव है। मन में उन पापों का उद्भव होने का अर्थ है : पापबंध, पापसंक्रमण, पुण्य के रस-स्थिति में क्षीणता (अपवर्तन) और उसके कुसंस्कार बढे वह अलग।

भूतकाल से इन्हीं कुसंस्कारों का ढेर ले कर आये है, अब पुन: यहाँ अशुभभाव करने से नये कुसंस्कारों की वृद्धि होती रहेगी।

पूर्व के महान श्रावक इन अशुभभावों को बडा अनर्थ-नुकसान समझते थे, तभी तो इस प्रकार शुभभावों से भरपूर जीवन व्यतीत करते थे कि, अशुभभावों को कोई स्थान ही प्राप्त ना होता।

अशुभभाव कराये ऐसे संयोग होने पर भी समझते थे कि, 'इस अनिष्ट संयोग के बहाने तले सामनेवाले के प्रति अशुभभाव करने पर मुझे कोई बचाव प्राप्त नहीं होगा; किन्तु मेरे आत्मा में अशुभकर्म का बंध आदि होता रहेगा, तो क्यों यह मूर्खता करूँ कि अन्य के कृत्य पर मैं दंड ग्रहण करूँ?'

- **संयोग पुण्य–पाप के आधीन है, शुभाशुभ भाव आत्मा के पुरुषार्थ के आधीन है।**
- **आत्मा संयोग प्राप्ति में पराधीन है, किन्तु अशुभभाव रोककर शुभभाव करने हेतु स्वतंत्र है।**

नुकसान में कौन से शुभभाव? :

तो क्यों मेरे हाथ से शुभभाव की तमाम बातें जाने दूँ, जिसका लाभ अपरंपार है?

देखो, खराब संयोग के नुकसान नहिवत है, उनके सामने मजबूत रहकर शुभभाव रखा गया, तो लाभ अपरंपार है।

कोई लाख रुपये लूँट गया या साथीदारों ने विश्वासघात करके ले लिए, उसका नुकसान यही है कि जीवनभर की अमीरी चली गई, इतना ही नुकसान। परंतु तब मन में यदि धन और अमीरी पर वैराग्य हो, सामनेवाले पर क्षमा हो कि,

'बिचारा ! मेरे पैसों के निमित्त से घोर पापकर्म का बंधन कर गया ! इस घोर पाप के उदय में उसका क्या होगा?' यह करुणा उत्पन्न हो, तो और 'भगवान सत्य कहते है कि, पैसे बरबादी का द्वार है,' इस प्रकार वैराग्य जागृत हो, क्षमा, करुणा, जिनवचन पर श्रद्धा... आदि शुभभाव किये, तो उसके लाभ अनगिनत है !

राम के शुभभाव :

कैकेयी ने भरत की खातिर राम को मिलनेवाला राज्य ग्रहण कर लिया, तो रामचंद्रजी ने क्या किया?

- उस पर गुस्सा किया?
- स्वयं के राजहक का दावा (अभिमान) उठाया?
- 'मैं भी देखता हूँ, भरत कैसे राज्यवहन करता है?' इस प्रकार द्वेष आदि कषाय, अशुभभाव किया?

नहीं, उन्होंने तो राजत्याग के साथ-साथ वनवास भी माँग लिया।

क्यों भला? वह जानते है कि, वहाँ स्वयं की उपस्थिति में भरत गादी ग्रहण नहीं करेगा। भरत राजगादी का स्वीकार करे, इसलिए स्वयं ने ही वनवास

ग्रहण किया, वन में चले गये और वहाँ एक दिन भी यह नहीं सोचा कि, 'अरे ! यह क्या हो गया? मेरा राज्य चला गया !' कैकेयी-भरत पर द्वेष तो नहीं किया, किन्तु लेशमात्र दु:ख या अशुभभाव भी नहीं।

सोचो, इस संयोग से स्वयं को नुकसान कितना? राज्य गया और राज्य के साथ-साथ सुख-साह्यबी गई, बस इतना ही। किन्तु शुभभाव से लाभ कितना?

(१) महान त्याग हुआ, और
(२) पिता के महान विनय से इतिहास में अमर बन गये।
(३) परिवार में क्लेश नहीं होने दिया।

माता कौशल्या रो रहे थे कि, 'अरे ! मेरा पुत्र राजा बनने के बजाय जंगलों में भटकता फिरेगा?' उसे भी राम ने हँसते कर दिये। कैसे? शुभभाव के बल पर।

रोते हुए कौशल्या को राम ने क्या कहा? :

राम कहते है : 'मा ! यह आप क्या कर रहे है? गौरव ले कर राजी होने के बदले रुदन क्यों? हमारे इक्ष्वाकुवंश में एक भी राजा द्विवचनी नहीं बने है। बोले गये वचन का पालन हुआ ही है। मेरे पिताश्री ने कैकेयी को पूर्व दिये हुए वचनानुसार उनके वरदान माँगने के कारण भरत को राज्य प्रदान किया है, किन्तु भरत यहाँ मेरी उपस्थिति में राजगादी स्वीकार करने हेतु तैयार नहीं है।'

'तो क्या पिताश्री का वचन व्यर्थ जायेगा? पिताजी का वचन सत्य साबित हो, इस हेतु से मैंने वनवास माँगा है। अत: अब भरत को राज्य ग्रहण करना ही पडेगा और इस प्रकार पिताजी का वचनपालन भी होगा।'

'तो, आपको तो गौरव ग्रहण करना चाहिए कि, वाह ! मेरा पुत्र वन में जा रहा है, जिसके कारण मेरे पति का वचन व्यर्थ नहीं होगा और इक्ष्वाकुवंश की प्रतिष्ठा अखंडित बनी रहेगी।'

यह सुनते ही कौशल्या हँस पडे, राम को आशीर्वाद प्रदान किया।

किन्तु यह सब कब हुआ? राम के मन में कैकेयी के प्रति द्वेष नहीं, अपितु 'पिताश्री का वचन व्यर्थ नहीं जाना चाहिए,' यह विनय-विवेक का शुभभाव प्रगट हुआ तब और इन परिस्थिति में वनवास ग्रहण करके महात्याग का शुभभाव भी अपना लिया तब यह हो सका।

आज के काल में आपके संसार में कहीं भाई-बहन-बहनोई-चाचा-मामा के साथ संघर्ष का प्रसंग हुआ, तब राम का उदाहरण नजरों के सामने रखोंगे, तो समझ आयेगा कि क्या राम के जैसा महात्याग-महानुकसान ग्रहण कर रहे है हम? नहीं, तो फिर जो कुछ अल्प त्याग करना पडे, राम की अपेक्षा से हम जो छोड रहे है, वह बहुत अल्प त्याग है, तो थोडा छोडकर भी शुभभाव बनाये रखो। उसमें आत्मा का अधिक क्या बिगड जायेगा?

शुभभावों की महाकिमत समझनी चाहिए।

अरे ! कुछ बिगडता नहीं, किन्तु शुभभावों के द्वारा

- उत्तम पुण्यबंध,
- पाप का पुण्य में संक्रमण (परिवर्तन),
- शुभरस का उद्वर्तन,
- अशुभ के रस का अपवर्तन (नाश),
- शुभ के संस्कारों का संचय;

आदि महान लाभ नजरों के समक्ष होने चाहिए।

इतना ही नहीं, सोचो कि, 'जो इस भव में ही अशुभ संस्कारों को तोडने का और शुभ संस्कारों को जमा करने का अमूल्य अवसर है, क्या उसी भव में विपरीत कार्य करने है? अशुभ संस्कार ही बढाये, वह अशुभभाव करना? शुभभाव का अनमोल अवसर गँवाना? यह अवसर मिटा देना?'

पैसे जहरिली द्रष्टि देता है।

अनेकानेक प्रकार के आरंभ-समारंभ करने का मन किसके कारण होता है? पैसों के कारण।

यदि साथ में पैसा ना हो, तो क्या कर सकते है? कहते है ना कि, 'मियां मशाला बिना क्या करेंगे?' फिर भी जीव अत्यंत आसक्त है। अपने पास कोई विशाल धन-संपत्ति ना होने के बावजूद बैठे-बैठे ही आरंभ-समारंभ की तरंगो में झुमता रहता है। वह भी किसकी खातिर? पैसों के खातिर।

अरे ! स्वयं को मिलने की आशा ना होने के बावजूद यही सोचता फिरेगा कि, 'इसने बंगला सुंदर बनाया है !', 'उसको तो व्यापार करना ही नहीं आता,

तो क्या कमायेगा? व्यापार तो इस प्रकार ही करना चाहिए।', 'यह भाई व्यर्थ में ही अपनी संपत्ति जमा करके बैठा है। आज तो कितने व्यापार है, इन-इन प्रकार के व्यापार कर सकता है ना?' यह तमाम विचार किसके संदर्भ में? पैसे-माल-मिलकत के संदर्भ में।

पैसा चीज ही ऐसी है कि, आरंभ-समारंभ आदि पापी विचार उसके लिए करवाता ही है।

मानव मन की विपरीत विचारधारा के कारण इस प्रकार के पापी भयंकर विचार करता है।

मन से मान लेता है कि, 'यह करने पर यह लाभ होता है।' यह विपरीत मान्यता है। क्योंकि उसे ज्ञात नहीं है कि, 'मस्तक पर कर्मसत्ता बैठी है। और तो और कर्म यदि विपरीत हो, तो सोचा हुआ कुछ होता तो नहीं है, उलटा अधिक पाप बंधन भी होता रहता है, वह अलग से !'

देखो, वह राजा भी मान लेता है कि, 'मैं इस नीचकुलिन बालक को मेरी गादी पर नहीं आने दूँगा। उसे मरवा दूँ।' और वह इस दिशा में प्रयत्न भी करता है।

किन्तु बालक का जिनदर्शन से उपार्जित पुण्य भी अति बलवान है, अत: राजा का प्रयत्न विफल होता है। पर हुआ क्या? राजा को तो वह पाप बंधन हुआ ही ना?

'मालन का पुत्र स्वयं का वारसदार होनेवाला है' यह सुनकर राजा ने महल में जा कर विचार किया कि, 'तो क्या वह ब्राह्मणपुत्र यही तो नहीं है ना? तो क्या उस हत्यारे ने इस बालक को जीवित छोड दिया? या फिर वह मर गया, उसके बाद यह कोई नया वारिस आ पडा? कुछ भी हो, अब इस बालक को जीवित रखना उचित नहीं है।'

बस, यह सोचकर पुन: एक भरोसेमंद पत्थरदिल हत्यारे को इस मालन के पुत्र को उठाकर दूर वन में ले जाकर मार डालने का घिनौना कार्य सौंप दिया।

राजा अपने ही मन की विपरीत विचारधारा के आधीन हो कर उस बालक को मार डालने का भयंकर कृत्य कर रहा है, किन्तु कहते है ना कि, 'जिसको रखे सांईया, मार सके ना कोई' सांई यानि परमात्मा, परमात्मा की भक्ति से

उपार्जित पुण्य। वह जब रखवाली कर रहा हो, तो कौन सा जंगली जानवर उस बालक का स्पर्श भी कर सके? कौन हो सकता है, जो उस बालक को हल्की सी खरौंच तक पहुँचा सके?

बालक की हत्या का कार्य भले ही दूसरे हत्यारे को सौंप दिया गया हो, किन्तु वह हत्यारा जब माली के आँगन से उस बालक का अपहरण करके अश्व पर बैठकर वन की तरफ भाग गया और लंबी दूरी काटने के बाद वह बालक भूखा हुआ, वह रुदन करने के बदले मुख फैरकर उस हत्यारे की दाढी में हाथ डालकर मीठी सी भाषा में बोलता है कि, 'काकाजी, भूख लगी है, लाडु मिलेगा?'

वह हत्यारा उस बालक का निर्दोष, मासुम, सुंदर चेहरा और उसकी मीठी वाणी सुनकर पिघल जाता है। उसके मन में विचार होता है कि,

'अरे ! ऐसे निर्दोष बालक की हत्या का घोर पाप मैं नहीं कर सकता। यह तो भगवान का स्वरूप ही दिखता है, इसे कैसे मारूँ?'

'अच्छा हुआ कि, राजा ने यह कार्य मुझे सौंपा। अन्यथा किसी नादान को यह कार्य दिया होता, तो वह नादान इस बालक को मार डालता। किन्तु बालक का भाग्य ही बलवान हो, तो किसी नादान को भी यह कार्य क्यों दिया जाता?'

'मुझे इस बालक की दया का विचार आ रहा है, इससे यह साबित होता है कि, इसका भाग्य बलवान है। तो फिर इसे यहाँ कहीं उचित स्थान पर रख देता हूँ। इस बालक के भाग्य से उसे कोई ना कोई पालक अवश्य मिल ही जायेगा।'

वह घुडसवार सीधा विचार करता है, स्वयं दया करके स्वयं का ही बडप्पन नहीं दिखाता। किन्तु बालक के सद्भाग्य की महत्ता, भाग्यवंत बालक की महत्ता मानता है।

दया–परोपकार–सेवा करना आसान है, किन्तु उसमें सामनेवाले की महत्ता मानना कठिन है।

पूर्व के पुरुष ऐसे थे कि, याचकों को दान दे कर याचक की महत्ता मानते थे।

कहते थे कि, 'भाई ! आपने उत्तम उपकार किया कि, मुझे दानधर्म का लाभ प्रदान किया। आपके जैसा ग्रहण करनेवाला ना होता, तो मैं धन होने के बावजूद दान कैसे कर पाता?'

वीर भामाशा ने दरिद्र बन चूके राणा प्रताप को बरसों तक सैन्य की खर्चपूर्ति हो, इतना धन प्रदान किया। कितना बडा परोपकार ! फिर भी यह धन दे कर भामाशा राणा को क्या कहते है? यही कि, 'आप इस धन से आर्यसंस्कृति का रक्षण करनेवाले हो। इसमें निमित्त बनने का लाभ मुझे प्रदान कर रहे है, यह मैं आपका महान उपकार मानता हूँ।'

परोपकार में सामनेवाले का उपकार मानने की बात थी। उसके बदले यदि सामनेवाले को स्वयं का उपकार मनाने के अभिमान से दया-दान करने की बात होती, तो शायद राणा प्रताप उस धन का स्वीकार भी करते या नहीं, वह भी एक सवाल है। और स्वीकार ना करते तो दान कैसे होता? परोपकार ग्रहण करनेवाला ना मिलता, तो परोपकार होता भी कैसे?

ग्रहण करनेवाले के बिना दान नामुमकिन, इस बात का उदाहरण :

अमरिका के महाकंजूस के रूप में प्रसिद्ध अरबोपति रोकफेलर को अंत समय में आत्मज्ञान हुआ। मन में हुआ कि, 'अरे ! मैं अरबों की धन-संपत्ति यूँ ही रखकर मर जाऊँगा? बेहतर है कि, इस धन को चेरीटी में-धर्मादा में दूँ।'

यह सोचकर अमरिका की लोकहितकारी संस्थाओं की सूचि मंगवाई। तमाम संस्था के नाम पर ५-५ हजार डोलर के चेक लिखकर उन संस्थाओं को भेज दिये। किन्तु तमाम संस्थाओ ने Refased with honour ससम्मान इन्कार करके चेक पुन: लौटा दिये। अब सोचो, इस स्थिति में रोकफेलर को परोपकार की उत्तम भावना होने के बावजूद परोपकार कैसे कर पायेगा?

यह बात हुई परोपकार करके सामनेवाले का उपकार, उसकी महत्ता मानने की।

यही बात सेवा करते वक्त -

जिसकी सेवा की, उस पर अपना प्रभुत्व नहीं जमाना, अपना उपकार नहीं मनवाना, किन्तु स्वयं उसका उपकार मानना है, उसकी महत्ता माननी है।

साधु को कुछ भी वोहराकर क्या बोलते हो? 'मैंने आपको उत्तम लाभ दिया'

यह बोलते हो? या फिर 'आपने मुझे उत्तम लाभ दिया' यह बोलते हो? साधु की सेवा आपने की, साधु को आपने प्रदान किया, फिर भी साधु को कहते हो कि, 'आपने मुझे अति उत्तम लाभ दिया, आपका उपकार मानता हूँ।' क्यों भाई? क्योंकि आप मानते हो ना कि ग्रहण करनेवाले साधु ही ना होते, तो वस्तु होने के बावजूद सुपात्रदान का लाभ कैसे मिलता? यही बात तमाम स्थानों पर मानने की तैयारी है?

माता-पिता की सेवा करके मानते हो कि, 'माता-पिता ने मुझे सेवा का लाभ प्रदान करके मुझ पर अत्यंत उपकार किया है'? या फिर यह मनवाते हो कि, 'यह तो मैं आपके लिए इतना कुछ करता हूँ, आपके अन्य पुत्र आपके लिए क्या करते है?' दोनों बातों में कितना बडा अंतर है?

सामनेवाले की महत्ता और स्वयं की महत्ता में फर्क :

सेवा में स्वयं की महत्ता मानने में हानि होती रहेगी और अवसर होने पर सेवा बंद भी हो जायेगी; जबकि सेवा में सामनेवाले की महत्ता मानने में वृद्धि होती रहेगी, उदारता होगी और साधन-संयोग होने पर सेवा कभी बंद नहीं होगी।

इसका कारण स्पष्ट है कि, सेवा करके अपनी महत्ता ग्रहण करते वक्त करकसर से सेवा करने पर भी महत्ता तो प्राप्त होती ही है, तो फिर उदारता क्यों करनी? और यदि सामने से कडवे वचन भी मिल जाये, तो सेवा का त्याग भी हो जाता है।

मन में होगा है कि, 'एक तो सेवा करो, उपर से ताने भी सुनो। नहीं करनी ऐसी सेवा। अन्य किसीकी सेवा करेंगे, तो कुछ महत्त्व तो मिलेगा !' मात्र इस लोक के हित पर, इस जन्म की महत्ता पर ही द्रष्टि है। उससे सेवा को करकसर का रोग और मौत लगा देता है।

सेवा में सामनेवाले का उपकार मानते वक्त परलोकहित नजर के सन्मुख है कि, 'मुझे यह जीव सेवा का लाभ प्रदान कर रहा है, अत: मुझे कृतज्ञता, गुणपूजा और पुण्य का लाभ प्राप्त होता है।' यह भाव होने पर सेवा में उदारता व्याप्त हो जाती है।

सेवा में तुच्छ पैसे का त्याग दे कर भी महान कृतज्ञता, महान गुणपूजा और महान पुण्य का लाभ प्राप्त हो, तो उदारता क्यों ना करे?

अब तक स्वार्थ की माया में की गई विपरीत विचारधारा को बदलकर सीधी विचारधारा अपनाने पर यह भाव होंगे। सत्कृत्य यानि,

सेवा में स्वयं का महान परलोकहित करवाने हेतु सामनेवाले का उपकार मानना।

परमात्मा की सेवा करने में भी यह लक्ष्य नहीं, तभी तो परमात्मा के गुणगान करने के बदले स्वयं के ही गुणगान किये जाते है। पूजा-आंगी में अपना नाम बोर्ड पर लिखवा देते हो, वह क्या है? मंदिर में अपने नाम की तकती लगवाते हो, वह क्या है?

प्रश्न : अन्य आत्मा अनुमोदना तो करेंगे ना?

उत्तर : अरे ! वह आत्मा तो अनुमोदना करके अपना कल्याण जब करेंगे तब करेंगे, किन्तु आप तो आपखुदाई में और भगवान पर मिथ्या उपकार मानकर डूब रहे हो, उसका क्या? आपको तो अन्य आत्माओं को अनुमोदना ही करवानी है ना?

- तो बोर्ड पर लिखवाओ ना कि, 'परमात्मा के एक देनदार की तरफ से आंगी-पूजा होगी।'
- तकती यह लगाओ कि, 'परमात्मा द्वारा प्रदत्त काफी माल दबाकर उसमें से कुछ अल्प निकालनेवाले मुफलीस की तरफ से यह उस ऋण का अल्प मुआवजा है।'

क्या इसमें अनुमोदना नहीं होगी? आपका नाम लिखवाने पर ही अनुमोदना होगी क्या?

यह सब नौटंकी मात्र है। अंतर में तो यही है कि, 'नाम लिखाकर स्वयं की प्रशंसा बढाऊँ' और बहाना करना है अनुमोदना का ! मन की चोरी है यह सब। तब सोचो कि, 'इस जीव का उद्धार कब होगा?'

भगवान की सेवा-भक्ति करो, उसमे भगवान का उपकार नहीं मानना, तो उद्धार की द्रष्टि दूर है।

भगवान का उपकार इस प्रकार है कि,

(१) सामने अरिहंत परमात्मा है, तभी जगत में उच्च मानी जाती अरिहंत भक्ति का लाभ प्राप्त होता है, अत: आलंबनभूत अरिहंत परम उपकारी है।

(२) अरिहंत ने यह तारणहार भक्ति का मार्ग बताया, तभी भक्ति करने की समझ प्राप्त हुई, अत: अरिहंत परमोपकारी है।

(३) अरिहंतदेव के प्रताप से यह उत्तम मानवभव प्राप्त हुआ, तभी तो यह भक्ति कर पा रहे है। अत: उच्चभव प्राप्त करवाने वाले अरिहंत परम उपकारी है।

(४) अरिहंत को स्वयं आपका कुछ भी नहीं चाहिए, तभी तो अधिकाधिक भक्ति का मन होता है। यदि अरिहंत स्पृही होते, तो आपके भक्ति के भाव भी इतने मजबूत ना रह पाते। नि:स्पृही, त्यागी को लोग हृदय से झुकते है।

इतना विचार भी कर लो, तो प्रभु की सेवा-भक्ति करके स्वयं की महत्ता का बोर्ड-तकती लगवाने से पूर्व या घोषणा करवाने से पूर्व लज्जा होगी, पागलपन लगेगा। स्वयं के बोर्ड, प्रशंसा आदि में रक्त रहनेवाला लज्जाहीन है, अज्ञानी है, मूढ है। बात यही है कि,

सेवा करके सामनेवाले का उपकार मानो, यह चमत्कार का कार्य करेगा।

पुत्र को कह दो कि, 'देख ! हम तुझ पर कोई उपकार नहीं कर रहे, किन्तु एक उत्तम धर्मी आत्मा तैयार करने का लाभ तू हमे दे रहा है।' इस बात की चमत्कारीक असर पुत्र पर होगी।

पुत्र हेतु खर्च करते वक्त भी बोलते रहो कि, 'हम तुम्हारे लिए जो भी खर्च कर रहे है, वह तू उत्तम धर्मात्मा बने इसी हेतु से कर रहे है।' तब वह पुत्र धर्मात्मा बनने की कोशिश करेगा, क्योंकि वह समझता है कि, 'मेरे धर्मात्मा बनने पर मेरे माता-पिता प्रसन्न हो रहे है।' इस प्रकार प्रारंभ में लालच हेतु भी धर्म करते-करते वह पुत्र धर्म से भावित होगा और सच्चा धर्मात्मा अवश्य बनेगा।

पडोसी का भी कोई कार्य करके, सेवा करके उसे कहो कि, 'आपने मुझे सेवा का अवसर प्रदान किया, मैं आपका आभार मानता हूँ। आपने मुझ पर दया की, महरबानी की।' यह बोलने पर उस पडोसी के मन में आप सदैव बस जाओगे।

सेवाधर्म को इसी कारण परमगहन कहते है :
'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।'

सेवाधर्म परमगहन क्यों? :

सेवाधर्म अत्यंत गहन है, जो योगीओं को भी समझने हेतु कठिन है और दुर्लभ है। अत्यंत गहन क्यों? क्योंकि उसमें हम अन्य की सेवा में तन-मन-धन से लग जायें, उसके बाद भी मान्यता तो यही है कि, 'उसने हम पर उपकार किया।'

सोचो, हमने किसी अन्य के अनेक कार्य किए, तो हमने उस पर उपकार किया या उसने हम पर? हमने कार्य किया, धन आदि हमारा उपयोग हुआ; फिर भी हम पर उसने उपकार किया? यह बात समझ में नहीं आयेगी। इसीलिए तो सेवाधर्म परम गहन है।

योगीओं अन्यों को उपदेश देते है, वहाँ तक कि पतित से पावन कर देते है; फिर भी 'मैंने उसका भला किया' इस प्रकार का विचार ना करके 'उसने मेरा भला किया' यह विचार करना उन योगीओं के लिए भी कठिन है।

योगीओं को अगम्य क्यों? :

प्रश्न : बात तो सही है ना कि योगी ने पतित का भला किया? दीपक की तरह स्पष्ट बात है। तो, पतित ने योगी का भला कैसे किया?

उत्तर : पतित की द्रष्टि से यह सही है कि, 'योगी ने मेरा भला किया।' हमारी मान्यता में भी यह सही है कि, 'योगी ने पतित का भला किया।' किन्तु योगी की स्वयं की नजरों में, स्वयं की मान्यता में तो यही होना चाहिए कि,

'उस पतित ने मुझ पर उपकार किया। क्योंकि महर्षिओं ने मुझ तक जो हितमार्ग पहुँचाया है, उसे मैं आगे तक ले जाऊँ, तभी कृतार्थ हो सकता हूँ। अतः मेरे पास से हितमार्ग ग्रहण करके उस पतित ने मुझे कृतार्थ बनाने का उपकार किया है।'

'महर्षिओं की तरफ से मुझे हितमार्ग प्राप्त हुआ है, अतः मुझ पर उनका उपकार हुआ है। तो अब मैंने क्या किया? मैं भी उसी मार्ग को आगे ले जा कर कृतकृत्य हो जाऊँ। किन्तु वह मार्ग आगे ले

जाने हेतु उसे ग्रहण करनेवाला भी कोई चाहिए ना? इस भाग्यशाली आत्मा ने यह मार्ग ग्रहण किया है और मुझे कृतार्थ बनाया है।'

सोचो, योगी के मन में भी यह वास्तविकता कैसे अपना स्थान बना पायेगी? किन्तु यह तमाम बातें सत्य है कि नहीं?

'सेवा ग्रहण करनेवाला उपकारी,' यह सत्य क्यों? :

प्रश्न : यह तो विपरीत सा प्रतीत हो रहा है। 'सेवाकारी वह उपकारी' के बदले 'सेवा ग्रहण करनेवाला वह उपकारी?'

उत्तर : हाँ, सेवा करनेवाला यह मानता है कि, 'मैंने इस पर उपकार किया,' तो, उसमें भले ही सामनेवाले को उपकार हुआ लगता है, किन्तु सेवा करनेवाले को 'मैंने किया' यह अभिमान प्रगट होता है; और हितमार्ग तो वास्तव में परमात्मा की देन है । वह मार्ग किसी अन्य को दिया, उसमें वास्तव में तो 'परमात्मा ने दिया' मानना चाहिए। उसके बदले 'मैंने दिया' यह मिथ्या मान्यता है।

तब, सेवा करके उसे उसी सेवा करने पर अहंकार और मिथ्या मान्यता का पोषण हो, तो 'सेवा की' वह स्वयं हेतु सफल रही या विफल? कहते है ना कि, 'अंत भला तो सब भला' यहाँ सेवा के अंत में अहंकार और मिथ्या कल्पना का पदार्पण हुआ। तो वह स्वयं हेतु सही कैसे हुआ?

उसके बदले यदि सेवा करके यह विचार किया जाए कि, 'मैंने क्या किया है? हितमार्ग मेरा नहीं है, वह तो परमात्मा द्वारा बताया गया है। तभी तो, परमात्मा का ही मार्ग आगे बढाने का कार्य किया है। उसमें वह हितमार्ग 'मैंने प्रदान किया और उपकार किया है', यह कैसे मान सकता हूँ?' यदि इस प्रकार के विचार मन में पैदा हो जाये, तो अहंकार और मिथ्या कल्पना से बचा जा सकता है।

व्यवहार में भी देखो, गृह से बाहर जाते वक्त, पडोसी ने आपको उचित व्यक्ति मानकर रु.१०,०००/- दे कर बाजार में किसी व्यापारी को देने का कह दिया, आप वह रुपये ले कर उस व्यापारी को देते हो, तब क्या यह मानोगे कि, 'मैंने उस व्यापारी को दस हजार रुपये देने का उपकार किया?' नहीं।

उल्टा, सामनेवाला यदि कहे कि, 'अच्छा हुआ, जो आपने अंत समय पर आ कर मुझे दस हजार रुपये प्रदान किये,' तो सज्जनता को बरकरार रखते हुए आपको यह कहना पडता है ना कि, 'नहीं भाई ! यह रुपये मेरे नहीं है, यह तो पडोसी ने दिये है। अच्छा हुआ कि, आपने इसे जमा करके मुझे जोखिम से मुक्त कर दिया, आपका उपकार है।'

योगी क्या मानते है? :

बस, इसी तरह योगी भी यही मानते है कि, 'यह हितमार्ग तो परमात्मा ने दिया है, उसे सामनेवाले को प्रदान किया, तब उस जीव ने मुझ पर लगे उपकार के भार से कुछ हद तक मुक्त कर दिया, परमात्मा की प्रति कृतज्ञता अदा करने का अवसर दिया। मेरे द्वारा कृतज्ञता अदा हुई, अत: उस जीव का मुझ पर उपकार है।' यह मानने पर अहंकार नहीं होगा।

अहंकार–मिथ्या कल्पना से कैसे बचा जा सकता है? :

इस तरह हितमार्ग का उपदेश योगी ने किया और पतित को पावन किया, किन्तु योगी स्वयं यही मानते है कि, 'सामनेवाले ने मुझे परमात्मा के प्रति कृतज्ञ बनने का अवसर प्रदान किया।' तब वहाँ अहंकार की उपस्थिति ही नहीं रहेगी कि, 'मैंने उसका भला किया।' मिथ्या कल्पना भी कैसे रहेगी कि, 'परमात्मा का नहीं अपितु मेरा हितमार्ग मैंने उसे प्रदान किया?'

धन से सेवा में क्या माने? :

बस, हितमार्ग की तरह धन–खानपान–शुश्रूषा–दवा आदि द्वारा सेवा करते वक्त यही मानना है कि, 'सामनेवाले ने मुझ पर उपकार किया।'

प्रश्न : किन्तु हमारा ही धन हमने सामनेवाले को दिया, उसमें उसने उपकार कैसे कर लिया?

उत्तर : मूल में तो यही बडी विटंबणा है। धन हमारा कैसे? धन तो परमात्मा का है ! पूर्वभव में परमात्मा की भक्ति की होगी, परमात्मा की आज्ञा का पालन किया होगा; तभी यहाँ पर धन प्राप्त हुआ। वह परमात्मा के प्रभाव से प्राप्त हुआ। और परमात्मा की भक्ति में पूर्व में कितना धन व्यय किया? और यहाँ कितना ज्यादा प्राप्त हो गया? वह क्या हमें ऋण के अवेज में प्राप्त हुआ है?

क्या शालिभद्र ने यह माना था कि, 'मेरी थाली में खीर के दान का यह दैवीक वैभव प्रतिलाभ है? वह मेरे दान की महत्ता मेरी ही महत्ता है?' यह मानना मूर्खता है। महत्ता गुरु की, उपकार गुरु का कि उन्होंने दान ग्रहण किया, तभी यह फल प्राप्त हुआ। इसी प्रकार महत्ता परमात्मा की है, उपकार परमात्मा का है।

जब यहाँ प्राप्त धन परमात्मा का ही दिया हुआ है, तब यह मानना कि, 'मेरा धन' यही प्रथम मिथ्या कल्पना है। फिर 'हमारा धन सामनेवाले को देकर सामनेवाले जीव पर हमने उपकार किया' यह मानना दूसरी मिथ्या कल्पना है। इन मिथ्या कल्पनाओं को भूलाकर, यह कल्पना करे कि,

'सामान्य रूप से मेरे हाथों षट्कायजीव संहार और विषयविलास व संरक्षण के अहंत्व-ममत्व और आर्त-रौद्रध्यान के पोषण में ही परमात्मा का धन खर्च हो रहा था। इस स्थिति में सामनेवाले ने मेरा दान स्वीकार कर मुझे उन पापों से बचा लिया है, मुझ पर उपकार किया है।'

यदि यह कल्पना की जाये, तो मिथ्याकल्पना-अहंकार आदि से बचा जा सकता है। तभी तो पूर्व के दातार सदैव याचकों का उपकार मानते थे।

इस तरह सामनेवाले को खान-पान देना, दवादि देना, निवासस्थान प्रदान करना, मूल्यवान सलाह देना; आदि में हम उपकार नहीं कर रहे, क्योंकि यह तमाम परमात्मा का ही दिया हुआ है। मूल्यवान सलाह-मार्गदर्शन भी, परमात्मा के प्रभाव से ही हमें वह मन प्राप्त हुआ, बुद्धि प्राप्त हुई, वह मार्ग-तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ, तभी प्रदान कर सकते है। सामनेवाला यह मार्गदर्शन ग्रहण करके हमें परमात्मा के प्रति कृतज्ञता अदा करवा रहा है, वह उसका हम पर उपकार है। यह एक उपकार।

सेवा ग्रहण करनेवाले का हम पर दूसरा उपकार यह है कि,

सामनेवाला हमारी हितशिक्षा ग्रहण कर रहा है, सुन रहा है, हमारा धन-खान-पान-दवा आदि का स्वीकार कर रहा है, तभी हमें दानधर्म, सुसंस्कार और महान पुण्य का लाभ प्राप्त हो रहा है।

हमें तो देना ही है, किन्तु सामनेवाला ग्रहण ही ना करे, तो दानधर्म का लाभ कैसे प्राप्त होगा? दान का पुण्य कैसे प्राप्त होगा? तो, हमारा धन

आदि स्वीकारकर हमें यह महान लाभ प्राप्त करवानेवाला सामनेवाला जीव हमारा कैसा बडा उपकारी हुआ !

वक्ता पर जड श्रोता का उपकार :

प्रश्न : शास्त्र कहते है कि, 'उपदेश देने पर भी सामनेवाले ने ग्रहण नहीं किया, सुनकर भी अनसुना कर दिया, फिर भी हितबुद्धि से कहनेवाले उपदेशक को तो एकांत से लाभ ही है।' तो फिर सामनेवाले का उपकार कैसे मानना? सामनेवाले ने उपदेश से कुछ ग्रहण किया हो, तो उचित है कि, उसके जीवनसुधार में निमित्त बनने का हमें लाभ प्राप्त हुआ हो, वह उसका उपकार।

उत्तर : उपकार इस तरह कि, सामनेवाला सुनने बैठा, तभी तो उपदेशक उपदेश कर सकता है। सुननेवाला ही ना होता, तो उपदेश कैसे कर पाता? दिवार या खंभे के सन्मुख तो उपदेश नहीं होता ना? भले ही जड श्रोता की तरह जड दिवार कुछ ग्रहण ना करे, फिर भी वहाँ 'उस जड का मेरे बोलने द्वारा भला हो,' यह उपदेशक बुद्धि तो नहीं आ सकती। तो फिर हितबुद्धि से बोलना भी कैसे होगा?

अत: उपदेशक को सुननेवाले श्रोता मिलते है, अत: वह लाभ होने में उसने श्रोता का उपकार माना, इसमें आश्चर्य क्या है?

सेवाधर्म योगी को भी अगम्य क्यों? :

तो अब कहो कि, नि:स्वार्थ बुद्धि से किसी प्रकार की मानाकांक्षा के बिना मात्र सामनेवाले की हितबुद्धि से उपदेश करनेवाले ने उपदेश की सेवा प्रदान की, किन्तु उसमें भी श्रोता पर स्वयं का उपकार नहीं, अपितु स्वयं पर श्रोता का उपकार माननेवाले कितने होंगे?

तभी तो कहा गया है कि, '**सेवाधर्म परम गहन है, योगीओं को भी अ–गम्य।**'

वास्तविकता तो यह है कि, यदि श्रोता का उपकार मानना होता, तो स्वयं को अहंत्व ही नहीं आ सकता कि, 'मैं इस प्रकार उपदेश का श्रम ग्रहण करता हूँ, फिर भी लोग समझते ही नहीं?', 'श्रोताओं को मेरा वचन मानना ही चाहिए।' इस प्रकार कोई हठाग्रह ही नहीं होगा। यह 'निरहंकार' प्रथम महान लाभ हुआ।

और दूसरा लाभ यह कि, सामनेवाले को उपकारी मानने से यह होगा कि,

उस श्रोता ने मुझे 'धर्मकथा' नामक पंचम महान स्वाध्यायरूपी आभ्यंतर तप का लाभ प्रदान किया। निर्जरातत्त्व की साधना करवाई; उसकी अनुमोदना होगी।

धर्मकथा ग्रहण करनेवाला ही ना होता, तो वह तप कैसे होता?

सेवा करके भी सामनेवाले का उपकार मानने पर दो बडे लाभ :

(१) अहंत्व-मिथ्याकल्पना का नाश, और
(२) महान धर्म, संस्कार और पुण्य की कमाई।
यह लाभ सामान्य नहीं है, किन्तु सेवा करके भी सामनेवाले का उपकार मानना वह महाकठिन कार्य है। तभी तो, वास्तविक सेवा करना आसान नहीं है। आनंदघनजी महाराज कहते है :

'मुग्ध सुगम सेवन आदरे, सेवन अगम अनुप'

अर्थात् भोले मानव यह मानते है कि, 'सेवाधर्म तो सरल है,' जबकि वास्तविकता तो यह है कि, अगम अर्थात् समझ ना सके ऐसा, अनुप-अनुपम है।

ज्ञान-तप-क्रिया से सेवा क्यों उत्तम है? :

सेवा-वैयावच्च वह उत्कृष्ट अप्रतिपाती-अविनाशी गुण कहा गया है; क्योंकि तपस्वी महातपस्या से और ज्ञानी ज्ञान आराधना से जो फल प्राप्त करते है, उससे भी अधिक फल अवसर पर उनकी सेवा-वैयावच्च करनेवाला प्राप्त कर सकता है। उसमें यह कारण है कि, सेवा करके ज्ञानी-तपस्वी का उपकार माना जाता है कि, 'उन्होंने मुझे सेवा का लाभ प्रदान किया,' और इसी प्रकार स्वयं का अहंत्व नष्ट करता है।

ज्ञान-तप-क्रिया आदि की आराधना में तो मात्र स्वयं की उपस्थिति है, जबकि सेवा की आराधना में अन्य व्यक्ति है। अत: इस विचारधारा की पुष्टि होती है कि, 'मैंने कोई सेवा नहीं की। सेवा तो सामनेवाले ने मेरी की है, उन्होंने मुझे लाभ प्रदान करने का उपकार करके मेरी सेवा की है।' ज्ञान-तप की आराधना में यह विचार नहीं हो पायेगा कि, 'मैंने ज्ञान का कोई प्रयत्न नहीं किया, मैंने तप नहीं किया।'

भरत-बाहुबली पूर्व की सेवा से आगे बढे :

सेवा की यह विशिष्टता देखो कि, भरत और बाहुबली के जीव पूर्वभव में

बाहुमुनि-सुबाहुमुनि थे। वह ५०० मुनिओं की भक्ति-वैयावच्च से कैसी उच्च अवस्था को प्राप्त करनेवाले बने !

जिनकी भक्ति-वैयावच्च करते थे, उनमें कितने तपस्वी होंगे, ज्ञान आराधक होंगे, ध्यान-कायोत्सर्ग से आराधना करनेवाले होंगे; उनमें से किसीके नाम इतने प्रसिद्ध-प्रचलित नहीं है, जबकि बाहु-सुबाहु का नाम भरत-बाहुबली के रूप में प्रसिद्ध हुए मिले है।

दोनों ने ऐसा कुछ तो किया होगा कि, भक्ति-वैयावच्च करते रहे और अन्य तपस्वी-ज्ञानी आदि का उपकार मानते जाये। कहते होंगे कि, 'आपने हमें उत्तम लाभ प्रदान किया, आपका हम पर अनंत उपकार है।'

सेवा ग्रहण करनेवाले भी यह मानते है कि, 'इन सेवा करनेवालों की उदारता कैसी विशाल है !' और सेवा करेनवाले यह मान रहे है कि, 'हमें सेवा प्रदान करनेवाले की उदारता कैसी महान है !'

जैनशासन की यही तो बलिहारी है : हरेक आत्मा को योग्य भावना सिखाता है।

- सेवा के विषय में ग्रहण करनेवाले के योग्य यह भावना कि, 'अहो ! यह सेवा करनेवाले धन्य है'। और
- सेवा में सबकुछ कर जाने के बावजूद स्वयोग्य भावना यह कि, 'अरे ! यह मुझे सेवा का अनुपम लाभ प्रदान करनेवाले की कैसी महानता ! कितना बडा उपकार !'

अरिहंत के उपकार की विचारणा :

परमात्मा के दर्शन करो, वंदन करो, पूजन करो, ठाठमाठ करो; तमाम स्थानों पर यही मानना है कि, 'प्रभु ! आपका कितना बडा उपकार कि आप अरिहंत परमात्मा बने, तब मुझे यह अमूल्य अर्हद्-दर्शन और अर्हद्-वंदनादि का लाभ प्राप्त हुआ है ! आपका कितना विशाल उपकार !'

'लाख रुपये का मुगट राजा या अन्य देवी-देवता को चढाऊँ, तो सामान्य लाभ, मात्र इस लोक का लाभ, परलोक का-मोक्ष तक का लाभ नहीं। किन्तु वही मुगट हे प्रभु ! यदि आपको चढाऊँ, तो अपरंपार लाभ, सद्गति का लाभ, यावत् मोक्ष तक का लाभ ! कारण, आप अरिहंत हो। अहो ! अरिहंत का कितना विशाल अपरंपार उपकार !'

जीवन में अनुकूलता तो अनेक प्राप्त होती है ना? तमाम अनुकूलताओं में, 'यह सब मेरे अरिहंत का ही प्रभाव है। अरिहंतनाथ ! आपका कितना बडा उपकार ! शुभभाव प्रदान करे, उत्तम व्रत-नियम-दानादि धर्म हो, यह सब आपका ही तो उपकार है ! मेरा क्या सामर्थ्य है? आपका आभार व्यक्त करता हूँ।' यह भावना जतानी है।

इस प्रकार बार-बार अरिहंत का उपकार माना जाये, तो कितने लाभ? :

(१) स्वयं का अभिमान पिघल जाता है, 'मैं कौन मात्र?' यह भाव होता है।

(२) अनेक उत्तम कार्य करने के बावजूद यश अन्य को प्रदान करने का अभ्यास होता है।

(३) अरिहंत के आलंबन से अनेक सत्पुण्य जागृत होने से उत्तम चीज-वस्तु आदि की प्राप्ति होती है। जिससे अरिहंत का अचिंत्य प्रभाव बार-बार मन में प्रसारित होने से 'अरिहंत ही जगत में वास्तविक उपकारी नाथ है, वास्तविक देवाधिदेव परमात्मा है' यह अटल विश्वास पैदा होता है।

(४) बार-बार 'अरिहंत उपकारी है' यह विचार मन में उत्पन्न होने से बार-बार उनके प्रति कृतज्ञता का पालन करने का मन होता है।

(५) 'प्रभु ! आप मेरे लिए इतना सब करते है, तो मैं भी आपकी कुछ ना कुछ भक्ति करूँ, कम से कम आपके नाम का रटन करता रहूँ' यह भाव होने से भगवद् भक्ति का स्मरण होता रहता है।

(६) अरिहंत की ही माया लगने के कारण संसार से वैराग्य होता है।

(७) यदि अरिहंत से ही सब कुछ सही हो रहा है, तो अरिहंत का बार-बार शरण ग्रहण करने का मन होता है, बार-बार शरण ग्रहण की जाती है। उससे भवस्थिति नष्ट होती जाती है।

(८) अरिहंत की आज्ञापालन का आनंद बरकरार रहता है।

बात यही है कि, सेवा-भक्ति करके भी हमारी महत्ता नहीं, सामनेवाले की महानता, उसका उपकार मानना है।



५. नरसिंह यक्ष का मंदिर

नंद राजा के हत्यारे को सद्‌विचार :

नंद राजा द्वारा तैयार किया गया हत्यारा माली की गृह से बालक को उठाकर उसकी हत्या करने हेतु ले तो गया किन्तु निर्दोष बालक का मासुम चेहरा और 'चाचा ! भूख लगी है, लड्डु कब दोगे?' ऐसी मीठी-मीठी वाणी से उसका मन पिघल गया। मन में हुआ कि,

'राजा मूर्ख है, जो इस देव के दूत समान बालक को मार डालना चाहता है ! किन्तु क्या मैं मूर्ख हूँ? यह भी बालक का सद्‌भाग्य था कि उसे मार डालने का कार्य किसी अन्य को नहीं बल्कि मुझे सौंपा गया ! और उसका भाग्य यह भी है कि, मुझे उस पर प्रेम उमड रहा है और उसे नहीं मारने का विचार स्फुरित हो रहा है।'

यह क्या है? बालक को न मारने की बुद्धि होने में स्वयं की महानता नहीं, अपितु बालक के ही भाग्य की महिमा मानता है। उसे मन में यही होता है कि,

'हे बालक ! तू कैसा उपकारी है, जो मुझे मानवहत्या के पाप से बचा रहा है ! तुम्हारे भाग्य से मेरे मन में दया उत्पन्न हुई है, मेरे मन से हिंसा का दानव नष्ट करके अहिंसा-करुणा के देव को बसा रहा है।'

वहीं वन में नरसिंह नामक यक्ष का मंदिर था, वहाँ उस कातिल ने यक्ष की विशाल मूर्ति के सन्मुख उस बालक को बिठाया और कहा : 'तु यहीं बैठ, मैं अभी लड्डु ले कर आता हूँ।'

यक्ष को प्रणाम करके कहता है : 'देव ! इस बालक की रक्षा करना।' फिर वह कातिल वहाँ से चला जाता है।

दयालु कातिल बालक को वन में ही क्यों छोड देता है? :

दयाभाव से भावित वह कातिल उस बालक को इस प्रकार भूखी-प्यासी हालत में निर्जन वन में रखकर कैसे जा सकता है? किन्तु वह समझता है कि, 'इसे पुन: ले जाना उचित नहीं है और अन्य नगर में ले गया, तो क्या पता कैसी परेशानीयों से सामना करना पड जाये? यहाँ यक्ष जागृत देव है, वह देव ही किसी तरह इस बालक की रक्षा कर लेगा। और बालक भी भाग्यवान है।' यह समझ रखते हुए वह कातिल उस बालक को वहीं छोड जाता है।

बालक निर्भय कैसे? :

हत्यारा तो चला गया। 'काफी देर होने के बावजूद वह वापिस क्यों नहीं आया?' इस विचार में बालक यक्ष की मूर्ति की गोद में बैठकर बडे प्यार से यक्ष की दाढी को छूता हुआ कहता है कि, 'काका ! भूख लगी है, लड्डु खाना है, लड्डु दिजीए ना !' यक्ष जागृत है, यह सुनते ही वह पिघल गया।

बालक पूर्वभव में भिक्षुक था, किन्तु वह 'भोजन मिलेगा कि नहीं?' यह तमाम भय को परास्त करके मंदिरो में अरिहंतदेव के दर्शन करने लगा। उस दर्शन से इस बालक को यह पुण्य प्राप्त हुआ कि, यहाँ बाल्यअवस्था में भी और वन जैसे स्थान में अकेले होने के बावजूद निर्भय है ! रुदन नहीं करता ! इस बात से क्या समझना है?

यदि जिन मलिनभाव का त्याग करके अरिहंतदेव के दर्शन-पूजन-स्मरणादि किये जाते है, तो वह मलिनभाव परलोक में परेशान नहीं करते।

कुमारपाल को अपूर्व अर्हद्भक्ति कैसे? :

कुमारपाल महाराजा के जीव ने पूर्वभव में अपने पास रही मात्र पाँच कोडी की संपत्ति से पुष्प ले कर परमात्मा को अर्पण किये और भावना व्यक्त की कि,

'प्रभु ! मैं रंक महापापी, और मुझे आपकी प्राप्ति हुई ! आपकी भक्ति के आगे मुझे बाकी सब तुच्छ सा लगता है। आप और आपका धर्म कितना उत्तम है, जो मुझ जैसे रंक को भी स्थान प्रदान करते है !'

इस भावना में उन्होंने मिथ्यात्व की मलिनता का नाश किया, अरिहंत और अरिहंत के धर्म के आगे, अन्य तमाम वस्तुओं की महत्ता मानने की मलिनता

हटाई, तो कुमारपाल सम्राट के भव में जैनधर्म प्राप्ति के पश्चात १८ देश का आधिपत्य होने के बावजूद वह मलिनता परेशान ना कर पाई और कुमारपाल अरिहंत व जैनधर्म के अनन्य भक्त बने। देखो,

राजा कुमारपाल ने कैसी-कैसी पराक्रमी अर्हद्भक्ति की?

(१) कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवंत श्री हेमचंद्रसूरिजी महाराज शास्त्रों की रचना करके लहिया (लेखक) के पास ताडपत्र पर लिखवाते थे। वह ताडपत्र समाप्त हो गये। कुमारपाल को ज्ञात होते ही अभिग्रह धारण किया कि, 'जब तक ताडपत्र नहीं आते, तब तक मुझे अन्न-जल का त्याग।' अरिहंत के ज्ञान की कैसी श्रेष्ठ भक्ति !

(२) भगवान की आरती करते वक्त कुमारपाल के मन में विचार आया कि, 'प्रभु ने मुझे १८ देश का सम्राट बनाया और अनहद संपत्ति प्रदान की और मैं प्रभु को मात्र एक ही ऋतु के पुष्प चढाऊँ? जब तक तमाम छः ऋतु के पुष्प ना चढाऊँ, तब तक मुझे अन्न-जल का त्याग।' अरिहंत के प्रति कृतज्ञताभरी कैसी उत्तम भक्ति !

(३) सामायिक-पौषध में कुमारपाल के पैर पर मकोडा चिपक गया। मुहपत्ति-चरवले की मुलायम दशीओं के छेडों से उसे दूर करने का प्रयत्न करते है, किन्तु चमडी पर चिपक जानेवाला वह मकोडा हिलता तक नहीं। तुरंत छूरी मँगवाते है। उस छूरी से स्वयं की ही चमडी को उखाड देते है। चमडी के साथ चिटके हुए मकोडे को सुरक्षित स्थान पर रखते है ! अरिहंत के दयामय धर्म की कैसी उत्तम साधना !

(४) कंटकेश्वरी देवी ने नवरात्रि में प्रत्यक्ष हो कर कुमारपाल को धमकी दी कि, 'महिषभोग प्रदान कर, अन्यथा तुझे मौत की शरण में जाना होगा।' फिर भी कुमारपाल अपने अहिंसा के सिद्धांत से पीछे नहीं हटे। देवी ने मस्तिष्क पर त्रिशूल मार के तीव्र वेदना और संपूर्ण शरीर में कुष्ठरोग का दुःख दिया, फिर भी देवी की बात नहीं मानी।

इतना ही नहीं, 'कल सुबह यह कुष्ठरोग देखकर लोक जैनधर्म की निंदा न करे?' इसलिए चिता में जलकर मरने हेतु तैयार हो गये। अरिहंत की दया और अरिहंत के जैनधर्म पर कैसी अनन्य श्रद्धा !

यह सब कैसे मुमकिन हुआ? कहो कि पूर्वभव में अरिहंत की भक्ति करते वक्त भय, कायरता, मिथ्यात्व, धर्म से भी बढकर प्राणादि का महत्त्व ज्यादा करना; आदि मलिनता को समाप्त कर दिया था। वह मलिनता पुनः यहाँ अर्हद्भक्ति में कोई अंतराय नहीं कर सकी।

क्या आप परलोक हेतु ऐसी कोई कामना करते हो? तो, यहाँ उन मलिनताओं को त्यागकर अर्हद्भक्ति करो, अर्हद्धर्म की आराधना करो।

अरिहंत की भक्ति करते वक्त जो मलिनता से दूरी रखोगे, वह मलिनता परभव में परेशानी बनकर नहीं आयेगी।

बीते हुए कल की दैवीक ९९ पेटी पर आज ममता क्यों नहीं? :

शालिभद्रजी के जीव ने पूर्वभव में साधु को खीर का दान दिया, वह दान खीर पर स्वयं की ममता का त्याग करके किया। तो उस ममता की मलिनता यहाँ दैवीक जवाहरात पर भी नहीं हुई। वहाँ तक कि दैवीक ९९ पेटी की आभूषण आदि वस्तुएँ दूसरे ही दिन विष्टा के स्थान समान कुए में फैंक देते थे !

अजब है ना? दैवीक जवाहरात आदि माल ममता से प्रेरित हो कर संग्रहित नहीं करते थे, बल्कि फैंक देते थे। क्योंकि पूर्वभव में ममता की मलिनता को नष्ट करके भक्ति की थी।

माता की ममता का त्याग किया था, तो परभव में वह भी परेशान नहीं कर पाई :

शालिभद्र को पूर्वभव में मृत्यु आते ही गुरु ममता रखकर ममता से गुरु को याद किया। समीप में बैठी, जन्म दे कर पालन-पोषण करनेवाले प्यारी माता की ममतारूपी मलिनता को टाल दिया। तो शालिभद्र के भव में 'मुझे भोग का पुण्य तो है, किन्तु सत्ता का पुण्य नहीं? धिक्कार है इस पुण्य को ! इससे उत्तम तो है मेरे प्यारे महावीर प्रभु के चरणों की सेवा। जो सर्वाधिकार से प्राप्त कर सकता हूँ।'

इस प्रकार के वैराग्य से चारित्र ग्रहण करने हेतु तैयार हुए और माता की ममता का त्याग किया। वह माता आदि की ममता की मलिनता भी उन्हें परेशान ना कर सकी।

नागकेतु को अट्ठम में प्राणों की परवाह क्यों नहीं? :

नागकेतु के जीव को पूर्वभव में अट्ठम की भावना हुई थी। किन्तु सौतेली माता के हाथों जलकर मरना पडा। तो वहाँ जीवन की या पीडा की कोई परवाह ना करते, अट्ठम ना होने का अफसोस हुआ। तो नागकेतु के भव में जन्म के साथ ही जातिस्मरणज्ञान हुआ और अट्ठम शुरु कर दिया। उस वक्त असह्य भूख और मौत के समान पीडा को अनदेखा कर दिया, क्योंकि पूर्वभव में शरीर और पीडा की परवाहरूप मलिनता का त्याग किया था।

कथानायक बालक ने पूर्व भिक्षुक के भव में भोजन मिलेगा या नहीं आदि भय की मलिनता को टालकर अनेक देवदर्शन किए थे, अत: यहाँ वन में अकेला होने के बावजूद उसे भय नहीं हुआ और हँसते-खिलते यक्ष को कहता है कि, 'काका ! भूख लगी है, लड्डु दे दो।'



६. नरसिंह : शेठ का पुत्र !

नरसिंहयक्ष का सेठ को स्वप्न :

यक्ष पिघल गया, बालक को मोदक प्रदान करता है और वहीं वन में पडाव डालकर रहनेवाले एक सार्थवाह को स्वप्न देता है कि, 'तुम्हें पुत्र चाहिए, तो इस स्थान पर जा, वहाँ नरसिंहयक्ष का मंदिर है। वहाँ देवकुंवर के समान पुत्र प्राप्त होगा।'

नरसिंह यक्ष के स्वप्न से सेठ प्रसन्न हो गया और उठकर चलने लगा। वन में खौज करते-करते वह मंदिर तक पहुँचा। वहाँ जा कर देखता है कि, सच में वह बालक बैठा है, खैलता-हँसता बालक !

सेठ उसे देखकर अत्यंत खुश हो जाता है कि, 'अरे वाह ! स्वप्न तो सत्य साबित हो गया ! यह बालक तो देवकुंवर समान है। भगवान ने मुझ पर कृपा बरसाई। मेरा वंध्यत्व का कलंक नष्ट कर दिया।'

इस प्रकार प्रसन्नता में मग्न हो कर वह सेठ बालक के पास जाता है और 'पुत्र ! तुम यहाँ क्यों बैठे हो? चल मेरे साथ।' इस प्रकार बोलकर बालक को उठा लेता है और प्यार बरसाता है।

बालक बोलता है : 'काका ! किन्तु अत्यंत भूख लगी है, मोदक दिजीए ना।'

सेठ कहता है : 'अच्छा? चल, तुझे खूब मोदक-मिठाई दूँगा। मेरे पास रहेगा ना?'

बालक खुश हो कर कहता है कि, 'हाँ-हाँ जरुर रहूँगा।'

सेठ उसे उठाकर अपने साथ ले जाता है। मन में सोचता है कि, 'यह बालक कितना सुंदर है ! न जाने कैसे इस घोर जंगल में आ पहुँचा ! वन में रहने

के बावजूद यह रुदन नहीं कर रहा और मेरे जैसे अनजाने मानव के साथ भी खुशी से रहने को तैयार है।'

सेठ को यह आश्चर्य हो रहा है, किन्तु उसे कहाँ ज्ञात था कि, पूर्वजन्म में उस बालक ने वीतराग के दर्शन के वक्त आहारादि संज्ञा को टाल दिया था। महान परमात्मा मिलने के कारण अन्य किसी बातों का भय भी नहीं रखा। उसकी उस दर्शनविशुद्ध साधना ने वह पुण्य प्रदान किया था कि जिसके उदय में कोई चिंता-फिक्र या भय-संताप नहीं रहे।

योगद्रष्टि-समुच्चय शास्त्र में कहा है कि, यदि साधना के समय

(१) साधना पर अत्यंत उपादेय बुद्धि, कर्तव्य बुद्धि हो,
(२) आहारादि और क्रोधादि की संज्ञाओं की अर्थात् लालायितता को रोका जाये, और
(३) फल की आशंसा ना हो,
तो साधना विशुद्ध कोटि की होती है।

विशिष्ट कोटि की साधना विशिष्ट पुण्य प्रदान करती है।
विशुद्ध कोटि के पुण्य को शास्त्र असंक्लिष्ट भोगदाता कहते है।

'**असंक्लिष्ट भोग**' अर्थात् जिस सुखभोग के वक्त जीव को रागादि का कोई संक्लेश ना हो, अंध तीव्र राग, तीव्र द्वेष और अन्य अंध भय-संताप-चिंता आदि संक्लेश भी, विशुद्ध पुण्योदय के वक्त ना हो।

किन्तु वह पुण्य कैसे प्राप्त होता है? विशुद्ध कोटि की साधना से।

सेठ उस बालक को अपने गृह ले जाकर पत्नी को कहता है : 'यह देख ! तुझे पुत्र की आकांक्षा थी ना? यह ले देवप्रदत्त देवकुंवर समान पुत्र।'

स्त्री तो उस बालकुंवर समान बालक को देखकर चौंक गई। वह भी प्रसन्नता में मग्न बनकर बालक को दोनों हाथों में उठाकर सिने से लगाकर प्यार बरसाने लगी और कहने लगी कि, 'वाह रे मेरे पुत्र !' उसके आनंद की कोई सीमा ही नहीं रही।

पुत्र के आगे उसे अन्य तमाम सुख व्यर्थ लगने लगे। आभूषण या रथ-पालखी आदि वाहन भी उसे व्यर्थ लगने लगे। अरे ! अपने पति तक को

भी वह भूल गई ! उस वक्त अन्य तमाम बातों से भी अधिक मूल्यवान उसके लिए वह पुत्र था।

सोचो, पुत्र के बदले जो परमात्मा को अधिक मूल्यवान समझे, भगवान को ही सर्वस्व समझे, उसे भगवान की अपेक्षा से संसार के बडे सुख, पत्नी-पद-प्रतिष्ठा-परिवार, संपत्ति-हीरे-जवाहरात के आभूषण इत्यादि तुच्छ ही लगेंगे ना? या कहो कि, जो संसार का तमाम 'कुछ नहीं' लगाता हो, वह भगवान को सर्वस्व मानने हेतु तत्पर हो।

आप कहते हो ना कि, 'परमात्मा पर ऐसे भाव होते ही नहीं, धर्म में यह रुचि नहीं होती,' परंतु होगी भी कैसे?

जब तक दुन्यवी वस्तु ही सर्वस्व लग रही हो, उसे तुच्छ मानने का मन ही ना हो, तब तक परमात्मा-धर्म आदि तो 'कुछ नहीं' लगेंगे।

संसार का सब कुछ तुच्छ मानने हेतु विचारणा :

अत: भगवान और उनके धर्म को सर्वस्व मानना हो, तो दुनिया के सब कुछ 'कुछ नहीं' मानो। कैसे मानोगे? जीव को यदि यह विचार प्रगट हो कि,

'इन तमाम दुन्यवी वस्तुओं के आगे मेरी दशा मदारी के वानर समान है। वह तमाम अपनी मरजी अनुसार मुझे नाच नचाते है। मैं भगवान के खानदान का हो कर भी इन दुन्यवी वस्तुओं के सन्मुख क्यों मदारी के वानर की भाँति नृत्य कर रहा हूँ?'

वास्तविकता से वस्तुस्थिति के स्वरूप में देखे, तो हम मोह के नशे में वश हो कर दुन्यवी वस्तुओं रूपी मदारी का नाच ही तो कर रहे है।

(१) दुन्यवी उत्तम वस्तु हमें खुशी का नाच नचाती है,
(२) प्रशंसा का नाच नचाती है,
(३) उसे किसी भी तरह प्राप्त करने हेतु प्रयत्न का और
(४) मिल जाये, तो अभिमान करने का एवं
(५) सही तरीके से उसकी देखभाल करने का नाच नचाती है। वह हल्की सी बिगड जाये या इधर-उधर हो जाये तो,

(६) हाय-हाय, उद्वेग,

(७) संकल्प-विकल्प और

(८) आर्तध्यान आदि का नाच करवाती है।

इस प्रकार, **खुशी-प्रशंसा, उद्यम-गर्व-संरक्षण-उद्वेग-संकल्प-आर्तध्यान यह सब हमारी शुद्ध आत्मा का स्वभाव नहीं है।** यह किरायेदार है। वह भी हमारी आत्मा को शोभास्पद नहीं है, अत: वह नृत्यरूप है।

- उत्तम मनचाही चीज, धन-संपत्ति, पत्नी या पुत्र आदि भी वास्तव में हमारे नहीं है। हमारे साथ सर्वदा रहनेवाले भी नहीं है। सर्वदा हमारा बनकर भी नहीं रहेंगे। फिर भी उसकी प्राप्ति होने पर आनंदित हो जाना भी नृत्य ही है। और,
- उसके जाने पर शोक-दु:ख-कल्पांत करना भी नृत्य ही है।
- उसी प्रकार, हमें पसंद ना हो उसकी प्राप्ति पर, खराब घटना को जानने पर जो भय आदि होता है, वह भी मोह का नाच है। तब,
- हमारे जीवन में वह घटना हो जाये तब खेद, दुर्ध्यान करना भी नाच है और उसे मिटाने हेतु भी जो क्रिया करते है, वह भी नाच ही है।
- दुन्यवी चाहे जड हो, या चाहे चेतन पत्नी-पुत्रादि की खातिर जो क्रोध-लोभ आदि कषाय करते है, वह भी नाच है।

दुन्यवी जड-चेतन आदि वस्तुएँ हमें कितने प्रकार के नाच करवा रही है?

दुन्यवी वस्तु के पीछे नृत्य का कारण क्या? उसे परमात्मा के सन्मुख तुच्छ नहीं माना, 'कुछ नहीं' नहीं माना वह।

यदि उसे तुच्छ माना जाये, 'कोई महत्त्व नहीं' यह माना जाये, तो यह नृत्य काफी हद तक समाप्त हो जायेंगे।

सेठ की, सरकारी अफसर की जीहजुरी-खुशामद का नृत्य कौन करवाता है? मूल्यवान माने हुए पैसे।

किसी का बंगला - मोटर देखकर 'अहा ! कितना सुंदर बंगला !' 'कैसी हाई क्लास मोटर !' इस तरह भारी राग या हरख क्यों होता है? बंगला-मोटर को

मूल्यवान मान लिया, महत्त्वपूर्ण मान लिया इस कारण। यदि उसे परमात्मा की प्राप्ति के आगे तुच्छ मान लिया जाये, तो राग-रति के कोई नृत्य नहीं होंगे।

बंगला उत्तम क्यों नहीं? :

प्रश्न : किन्तु बंगला आदि अच्छा बना हो, तो वहाँ आकर्षण तो होगा ही ना?

उत्तर : मूल नींव की ही भूल है कि उसे उत्तम मान लिया गया।

- बंगला उत्तम? या जिनमंदिर उत्तम?
- मोटर उत्तम या पैदल चलकर जीवजंतु की रक्षा करना उत्तम?
- स्वयं ने उत्तम माना हुआ बंगला जब-जब देखोगे, जब-जब करोगे, तब-तब आत्मा में राग के जहर अपनी जडें मजबूत करते है, अहंकार के जहर गहन होते है।
- उसमें कोई हल्का सा भी परिवर्तन करवा दे, तो उस पर द्वेष के जहर !
- बंगले पर सदा के लिए ममत्व और उसके निर्माण की खुशी अर्थात् महाआरंभ-समारंभ की अनगिनत जीवहिंसा के आनंद का जहर;

यह तमाम जहर आत्मा में डालने का कार्य करे, वह बंगला उत्तम होगा क्या?

मोटर के पीछे कितने पाप? :

मोटर को बनाने हेतु भी,

(i) विशाल कारखानों में महाआरंभ-समारंभ-जीवहिंसा हुई, उसकी अनुमोदना के जहर, और

(ii) उस मोटर का उपयोग करने में भी असंख्य अग्निकाय आदि जीवों की हिंसा,

(iii) मोटर दौडती रहे उस वक्त असंख्य वायुकाय जीवों की हिंसा,

(iv) साथ-साथ मोटर के नीचे कीडे-मकोडे आदि जीव कुचलकर मर जाते है।

(v) इन तमाम हिंसा के साथ-साथ मोटर पर बार-बार राग, ममत्त्व, अभिमान आदि के जहर आत्मा में द्रढ होते रहते है, जिसके परिणाम भयंकर होते है।

वह मोटर उत्तम है क्या?

बात यही है कि, बंगला-मोटर आदि उत्तम नहीं अपितु व्यर्थ लगे, तो उस पर राग के नाच नहीं होंगे, रति-आनंद-अभिमान आदि के नाच नहीं होंगे। अन्यथा वह मोटर-बंगला आदि मदारी है, जो जीव को वानर के समान नाच नचाते रहते है। अत: उन विविध नाच से बचने हेतु यही उपाय है कि, उसे 'कुछ नहीं' माना जाये।

दुन्यवी जड-चेतन वस्तु 'कुछ नहीं' लगती है, तभी परमात्मा का मूल्य ज्ञात होता है, परमात्मा के साथ संबंध बनाने का मन होता है।

भूले नहीं कि परमात्मा के साथ संबंध बनाने हेतु उत्तम भव यही मानवभव है।

यहाँ के रागादि के कुसंस्कार भवांतर में यही समझ देंगे :

भविष्य पर भरोसा कर के मत बैठ जाना कि, 'अब कोई पुन: उत्तम आर्य मानवभव मिलेगा, तब परमात्मा के साथ संबंध रखेंगे।'

यह धारणा भी गलत है। क्योंकि यहाँ दुन्यवी वस्तुओं का अधिक मूल्यन करके ऐसे खराब कुसंस्कार जमा हो जायेंगे कि भवांतर में भी इन्हीं कार्यों का पुनरावर्तन होगा। अत: जो भी कुछ उत्तम कार्य करने है, वह आज ही, अभी कर लो।

यही विचार करना है कि, 'दुन्यवी कोई मनचाही चीज अचानक प्राप्त हो जाये, तब जो अपूर्व आनंद होता है, और उसकी प्राप्ति के कारण मनोदशा प्रफुल्लित हो जाती है, तो यहाँ मुझे परमात्मा भी अचानक ही प्राप्त हो गये है, तो अपरंपार आनंद क्यों ना हो? 'अहो ! क्या बात है ! बडे-बडे इन्द्रों को मिल सके वह परमात्मा मुझ जैसे रंक को भी मिल गये !' ऐसी विचारधारा क्यों ना हो? परमात्मा के मिलने पर मनोदशा प्रफुल्लित क्यों ना हो?

बालक का नाम नरसिंह :

पुत्ररहित सेठ-सेठानी को यक्ष के द्वारा मनचाहा देवकुंवर जैसा बालक प्राप्त हो गया, उसका अनहद आनंद है। नरसिंह यक्ष के प्रताप से बालक प्राप्त हुआ, अत: उसका नाम भी 'नरसिंह' रख दिया।

पूर्वभव का भिक्षुक देवदर्शन के पुण्य से चमत्कारिक रक्षण प्राप्त करके अब बडे सेठ के गृह पुत्र के स्वरूप में दुलारा बन कर रहने लगा ! सेठ माल, नोकर-चाकर के साथ देशाटन पर गया। दो-तीन वर्ष बीत गये थे। गाँव-नगर घुमते-घुमते पुण्य से पैसा अर्जित करता रहा।

अब उसने सोचा कि, 'अब बहुत लोभ करने से क्या? पुत्र की प्राप्ति हो चूकी है। अब शांति से घर जा कर आनंदमंगल करूँ और पुत्र का उत्तम पालन-पोषण करूँ, उसके साथ क्रीडा करूँ। सब से बडा धन तो पुत्र रूप में ही मिल चूका है। अब देश-देश भटकने की क्या आवश्यकता है?'

देश-देश फिरकर धनोपार्जन करनेवाले का लोभ कम हो सकता है? नहीं। परंतु दूसरा तत्त्व उत्पन्न हुआ और उसने लोभ को दबाया। पुत्रसुख प्राप्त करने का मनोरथ उत्पन्न हुआ, तो धनोपार्जन का लोभ दबाना पडा।

वैसे ही, जीवन में यदि धर्मतत्त्व को स्थान दो, परमात्मा की भक्ति-भजन-पूजन-स्मरण के सुख प्राप्त करने का भाव पैदा हो, और वह भजन आदि विपुल मात्रा में करो; तो धन का लोभ, व्यापार का लोभ भूला जा सकता है। प्रिय पत्नी के साथ वार्तालाप करने का सुख भी त्याग सकते है। प्रभु भजन-पूजन चालु रखकर उसका आस्वादन ग्रहण करनेवाले को ही यह समझ आता है।

नरसिंह के मान :

सेठ नगर में पहुँचकर यह बात फैला देता है कि, 'सेठानी को गुप्त गर्भ था, अत: मार्ग में ही बालक का जन्म हो गया।'

लोगों को ज्ञात ही नहीं था कि मार्ग में क्या हुआ? लोगों ने तो यही सोच लिया कि, 'यह सेठ का ही पुत्र है।' सेठ को वंध्यत्व का कलंक मिट गया। लोक में भी मानपान बढन लगे।

नरसिंह सब को प्रिय होने लगा। सब को वह पसंद है, सब उसके साथ क्रीडा करना चाहते है। पूर्व के पुण्य से वह नीडर, सुंदर और प्रसन्नता का मालिक तो था ही, अब सेठ का पुत्र बन गया, तो परिवारजन-स्नेहीजन भी सेठ के घर जा कर उसके साथ क्रीडा करते है, प्यार बरसाते है, नई-नई चीज और खिलौने से उसको खुश करते है, उसे देखकर आनंदित हो जाते है।

यह सब देखकर सेठ-सेठानी को नरसिंह के प्रति स्नेहराग बढ जाता है और उसे अधिक प्रेम करने लगते है।

पुण्यानुबंधी पुण्य का चमत्कार कैसे? :

नरसिंह को अत्यधिक मान, प्रेम मिलता है, परंतु इतना सब होने के बावजूद नरसिंह को कोई अभिमान नहीं, कभी भी वह रुठता नहीं, उसका कारण यह है कि पुण्य भी स्पष्ट पुण्यानुबंधी के साथ ही प्राप्त हुआ है।

यह पुण्य पुण्यानुबंधी कैसे? कहना ही होगा कि उसने पूर्वभव में भगवान के दर्शन-गुणगान बहुत किये थे, वो भी दुन्यवी किसी भी चीज की आशा रखे बिना किया था, तभी ऐसा निर्मल पुण्य प्राप्त हुआ।

भिक्षुक अवस्था में था, किन्तु दर्शन करने द्वारा एक रोटी प्राप्त करने तक की आशा भी नहीं की थी। यही विचारधारा थी कि, 'रोटी आदि पूर्व का पुण्य होगा, तो प्राप्त हो जायेगा, किन्तु उसके लिए अमूल्य प्रभुदर्शन का भाता क्यों बरबाद करूँ? विश्व में सबकुछ मिल जाता है, किन्तु प्रभुदर्शन नहीं मिलता। प्रभुदर्शन से प्रभु बनने की कला छोडकर दुन्यवी वस्तुओं का गुलाम क्यों बनूँ?'

ऐसी निराशंसभावना से धर्म अल्प भी हो, तब भी विशाल पुण्यानुबंधी पुण्य प्रदान करता है।

पुण्य की लीला अजब है।

इतना ज्यादा सौभाग्य प्राप्त करने में, भोग करने में स्वयं की क्या कला या चतुराई है? अभी तो वह नन्हा-सा बालक है, तो इतना ज्यादा प्रेम प्राप्त करने हेतु स्वयमेव कौन सी चतुराई कर पायेगा? बडे-बडे जो कला-चतुराई करने के बावजूद इतना सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाते, उसका कारण क्या? यब सब पुण्य का प्रभाव है, पुण्य की करामत है, लीला है। यह महासौभाग्य का पुण्य कहाँ से आया? कहो कि,

पूर्वभव में परम सौभागी परमात्मा के मात्र दर्शन-स्तुति से बार-बार अत्यंत भाव से भक्ति की थी, अत: सौभाग्य नामकर्म का महान पुण्य उपार्जित हुआ था।

इस पुण्य से यहाँ महासौभाग्य की प्राप्ति कर रहा है, परम सौभागी क्यों ना हो?

नरसिंह बडा होता है। अत: सेठ उसे पंडित आदि विविध विषयों के शिक्षकों के साथ ज्ञान-कला-विज्ञान में चतुर बनाता है। अक्षरज्ञान, भाषाज्ञान, अंकशास्त्र-हिसाब-किताब आदि के साथ-साथ किराने की परख, हीरा-मोती की परख, घुडसवारी, लाठी-तलवार के दाँवपेच... आदि अनेक कला और विज्ञान में नरसिंह को पारंगत बनाते है।

नरसिंह को भी उन तमाम कलाओं को ग्रहण करने में कोई देर नहीं लगी। महाज्ञानी प्रभु की भक्ति करके आया है ना? सोलह बरस होते तक वह अति चतुर बन गया। इसका कारण क्या? अनंतज्ञानी परमात्मा की भाव से भक्ति की थी, तो वह भक्ति महाज्ञान की शक्ति क्यों नहीं देगी?

आपको भी दुनिया से कुछ ना कुछ उत्तम चाहिए ना? किन्तु उस वक्त परमात्मा याद आते है?

अधिक धन चाहिए, किन्तु मन में यह विचार आता है कि, 'अनंत उपकारी परमात्मा के प्रभाव से यहाँ मानवभव आदि महापुण्याई को प्राप्त किया है, तो

- उस अनंत वैभवी के चरणों में कुछ ना कुछ अर्पण कर दूँ?
- उनके द्वारा दी गई संपत्ति से उनकी शोभा करूँ?
- दुग्ध उत्तम चाहिए, तो परमात्मा को भी दूध चढाऊँ?
- घी उत्तम चाहिए, तो परमात्मा के सन्मुख घी के दीपक प्रगटाऊँ?'

प्रभु के प्रति कृतज्ञता का विचार :

ध्यान रखना, इन घी-दूध-धन प्राप्ति हेतु परमात्मा को घी-दूध-धन से नहीं पूजना है, अन्यथा यह तो विषक्रिया हो जायेगी। यह तो मात्र समझने की बात है कि, व्यवहार में भी यदि किसी से कुछ लिया हो, उसका खाया हो; तो उसे पुन: कुछ प्रदान करने का, खिलाने का विचार आता है; तो बडे दाता परमात्मा के प्रति यह विचार क्यों नहीं? प्रभु ने हाथोहाथ नहीं दिया इसलिए?

सरकार ने हाथोहाथ कुछ नहीं दिया है, किन्तु यहाँ अप्राप्त हो वह सस्ता माल परदेश से विशाल प्रमाण में आने देने की सुविधा प्रदान कर दे, तब भी सरकार का उपकार मानते हो।

विचार करने हेतु हृदय की आवश्यकता है। जैसे कि इस प्रकार कृतज्ञता का विचार होना चाहिए कि,

प्रभु के भावी उपकार का विचार :

- परमात्मा इतने अनंतज्ञानी है,
- अनुपम उच्च गोत्र-यश-सौभाग्य-आदेयता के धारक है,
- सर्व लाभांतराय के क्षय से अनंतलाभ-लब्धि के स्वामी है,
- अनंत वीर्यलब्धि और अनंत दानलब्धि के मालिक है, वैसे ही,
- प्रभु अनंत राग के क्षय करनेवाले भी है।

ऐसे अनंत गुणधारी भगवान की भक्ति करने से यदि उस अनंत की प्राप्ति हो सकती है, तो फिर उससे अल्प की प्राप्ति अवश्य हो ही सकती है। इसमें आश्चर्य क्या है? क्यों अन्य स्थानों पर भटकना है? वह अनंतज्ञानादि वैभव के धारक की ही भक्ति करूँ। अन्य की सेवा-गुलामी त्याग कर प्रभु की सेवा-गुलामी करूँ। उसीसे सब कुछ प्राप्त होगा।'

पूर्व के महान आत्माओं के उदाहरण भी देखो। परमात्मा की अनन्य सेवा करके दुन्यवी अचिंत्य संपत्ति को प्राप्त किया और आत्मीय समृद्धि भी अनंत प्राप्त की।

नागकेतु महाश्रावक पुष्पपूजा करते-करते पुष्प के मध्य छूपे हुए सर्प के दंश को प्राप्त किया, देह में जहर फैल गया। किन्तु सामने परमात्मा प्राप्त हुए है, अनंतशक्ति के निधान प्राप्त हो गया है, अनंत निर्मलता-नीरोगिता-स्वस्थता का धाम प्राप्त हो गया है, फिर क्यों किराये की नाशवंत काया को देखे?

अरिहंत परमात्मा की, परमात्मा के स्वरूप की लगन में मग्न हो गये। काया की माया ही छोड दी, फिर सर्पदंश की पीडा भी कैसे होगी? अरिहंत के ध्यान में तमाम ममता-आसक्ति रख दी, अनासंग योग में आरुढ हो कर वीतराग बने, केवलज्ञान-सर्वज्ञता को प्राप्त किया। अनंतज्ञानी, अनंत आत्मसमृद्धि संपन्न परमात्मा से क्या प्राप्त नहीं हो सकता? अनंतज्ञानादि, अनंत आत्मसमृद्धि प्राप्त हो गई !

सवाल यही है : यदि अरिहंत परमात्मा मिल गये है, तो परमात्मा की भले

कोई एक प्रकार की उपासना हो, मगर उसमें मग्न हो जाओ, खो जाओ, ओतप्रोत हो जाओ फिर उस भक्ति का फल तो तैयार ही है।

नरसिंह ने पूर्वभव में मात्र अरिहंत प्रभुदर्शन की उपासना की थी, किन्तु उसमें खो जाने के कारण, यहाँ चतुराई भी श्रेष्ठ प्राप्त हो, उसमें आश्चर्य क्या? नरसिंह ने तमाम कलाविद्या अत्यंत आसानी से ग्रहण कर ली।

नरसिंह अब सोलह बरस का होता है, तब उसके पालक पिता श्रेष्ठी अब उसे देशाटन का अनुभव प्रदान कराने हेतु उसको साथ ले कर माल-सार्थ को ले कर परदेश जाते है।

क्रमश: बडे नगरों में व्यापार करते हुए, नरसिंह को मारने हेतु दो बार योजना बनानेवाले उसी राजा की राजधानी में जा पहुँचते है। वह सेठ भैंट-सौगाद ले कर नरसिंह के साथ राजा के दरबार में जाता है। राजा को प्रणाम करके, नरसिंह की पहचान दे कर उससे भी प्रणाम करवाता है। राजा के चरणों में नजराना अर्पित करता है।

राजा के पूछे जाने पर बताता है कि, 'वेपार अर्थ यहाँ आया हूँ। आपकी कृपा से यहाँ उत्तम व्यापार होगा। आशीर्वाद प्रदान करे।'

तभी वहाँ उपस्थित ज्योतिषी आश्चर्यचकित हो जाता है। राजा वह देख लेता है। सेठ को योग्य आसन पर बिठाकर ज्योतिषी को बुलाकर आश्चर्य का कारण पूछता है।

ज्योतिषी राजा के कान में कहता है कि, 'महाराज ! इस सेठ के पुत्र में राजा होने के लक्षण है।'

यह सुनकर राजा तो हतप्रभ बन गया। मन में विचारों का हडकंप मचने लगा कि, 'अरे ! क्या यह वही बालक तो नहीं है ना? कुछ भी हो, किन्तु एक बनिये का बेटा मेरा वारिस? कुछ भी हो जाये, यह मैं नहीं होने दूँगा।'

ज्योतिषी को कहता है : 'अच्छा? वाह, अति उत्तम !' किन्तु मन में तो पुन: वही मृत्यु की योजना अपना आकार ग्रहण करने लगी थी। वह मन में सोचता है कि, 'इस सेठ के साथ घनिष्ठ संबंध बनाऊँ, फिर किसी दिन मौका मिलने पर उसके पुत्र को मौत के घाट उतार दूँ।'

नरसिंह : शेठ का पुत्र !

राजा दिवान को कहता है कि : 'इन सेठ को उत्तम मकान आदि व्यवस्था कर दो। वह उत्तम व्यापार कर सके, ऐसी तमाम सुविधा कर दो। ध्यान रखना, उन्हें हमारे नगर के ही निवासी बनाना है।'

दिवान ने बात का स्वीकार करते हुए कहा कि : 'जी सरकार ! आपकी आज्ञा का पालन होगा।'

सेठ अत्यंत प्रसन्न होकर, पुनः राजा को प्रणाम करते हुए कहता है : 'आपका बडा उपकार।'

राजा कहते है : 'खुशी से व्यापार करो और क्या प्रगति है वह मुझे ज्ञात करवाते रहना। जिससे जो भी सुविधा की आवश्यकता हो, उसे पूर्ण कर सके। आपका व्यापार बढे, इसमें मेरे ही नगर की शोभा है।'

सेठ पुनः प्रणाम करके जाता है। दिवान उसे सुंदर मकान आदि तमाम सुविधा कर देता है।

राजा का नरसिंह हेतु दुष्ट आशय :

सेठ के मन में खुशी की सीमा ना रही। उसको विचार होता है कि, 'वाह ! हम कैसे भाग्यवान है, जो महाराजा ने इतनी सुविधा प्रदान कर दी !' उस बेचारे को यह ज्ञात नहीं था कि, इन तमाम सुविधाओं के पीछे तो राजा का आशय नरसिंह को मौत के घाट उतारना ही था।

सेठ तो अपना व्यापार जमाता है और राजा को भी लगातार मिलता रहता है। राजा भी प्रेम का नाटक करके, सेठ के साथ संबंध बढाये जाता है और अब तो राजा के आमंत्रण से सेठ महल में जा कर संबंध बढाता रहता है। उसमें भी राजा नरसिंह पर स्वपुत्र की तरह स्नेह बरसाता है, तब सेठ मानता है कि, 'वाह ! यह देवप्रदत्त पुत्र भी कैसा भाग्यवान है, जो इतने बडे महाराजा भी उसे प्रेम करने लगे है !'

दुष्ट राजा की तरह पापानुबंधी पुण्य है :

क्या सेठ जानता है कि इन तमाम सुविधा और प्रेम के पीछे पुत्रहत्या करने का राजा का आंतरिक आशय दुष्ट है? नहीं। नहीं जानता-नहीं समझता।

बस, जीव को भी पापानुबंधी पुण्यकर्म से जो सुख-सुविधा प्राप्त होती है,

वहाँ भी यही गणित है। उसमें जीव पापानुबंधी पुण्य के भी आंतरिक भयंकर स्वरूप को नहीं समझता कि, 'इसमें मेरा ही नुकसान है।' यह ज्ञात नहीं अत: उस पुण्य के द्वारा प्रदत्त सुख-सुविधाओं पर खुश हो कर अनहद पाप करता है, गाढ मोह करता है।

आपको अल्प अनुकूलता मिलने पर भी पुण्य से प्राप्त हुआ लगता है, किन्तु उस पुण्य की पहचान है कि वह पुण्यानुबंधी है या पापानुबंधी?

'गुरुदेव ! पहचान करके क्या काम है? जो मिला सो अपना।' यह मत कहना, क्योंकि यदि वह पुण्य उस राजा की तरह दुष्ट होगा, पापानुबंधी होगा, तो क्रूर साबित होगा।

कोई मित्र बनने आये, तब भी आप जाँच करते हो ना कि, 'यह मानव कैसा है? विश्वासघाती तो नहीं होगा ना?' तो फिर पुण्य हेतु यह जाँच नहीं करनी कि, 'यह किस प्रकार का है? अंत में घात करनेवाला और दुर्गतिदायक तो नहीं होगा ना?'

अत: इतना तो देखना ही पडेगा कि पुण्य पुण्यानुबंधी है या पापानुबंधी?

पुण्य पापानुबंधी है कि नहीं? यह इस प्रकार ज्ञात होगा :

उस पुण्य द्वारा प्रदत्त धन-माल-मान-परिवार पर

(१) सद्बुद्धि न हो, अपितु दुर्बुद्धि हो,
(२) धर्म की भावना न हो, सांसारिक पाप आचरण का मन हो,
(३) क्षमा-नम्रता-दया आदि ना रहे। क्रोध, गर्व, कठोरता आदि अत्यंत रहे और उसमें अफसोस भी ना हो,
(४) उस धन-माल आदि पर मम्मणसेठ की भाँति अतिशय गाढ ममत्व रहे।

इस प्रकार पापानुबंधी पुण्य की पहचान होती है।

उस पुण्य से मौज तो कर ली, किन्तु परभव में परिणाम? यही कि, पुण्यकर्म ने दी हुई सुविधा पर जीव अनेक दोष-दुष्कृत्य करके नरकादि दुर्गतिओं के आधीन हो जाता है।

दुनिया का राजा लालायित करके, सकंजे में कसकर, बिगाड बिगाड के भी कितना बिगाड लेगा? परंतु यह कर्मसत्ता कैसा निकंदन कर देगी? किन्तु मूर्ख

जीव को यह विचार ही नहीं है। पुण्य प्राप्त होने पर सुखसाधन पर उसे पागल होना है, अनेक पापस्थानकों का सेवन करना है। शायद कभी धर्म कर भी ले, तब भी उस दुन्यवी मानपान की लालच में ही करेगा अर्थात् धर्म करके भी दुन्यवी मान-सम्मान-धन-परिवार आदि का राग ही मजबूत होगा, जिनके लिए अनेक पापसेवन करने के पश्चात भी कोई हिचकिचाहट भी नहीं !

धर्म करके भी संसारवर्धक दुन्यवी वस्तु का राग बढाना; यह कैसी मूर्खता? :

पाप कौन करवाता है? यह धन-माल-परिवार-प्रतिष्ठा आदि का राग।

वह राग क्यों? उस धन-माल आदि के कारण ही।

अत: धन-माल आदि विषय भी भयंकर और उसका राग भी भयंकर।

अब यह मत कहना कि,

प्रश्न : धन-माल आदि प्राप्त करते रहे, परंतु उस पर राग ना करे, तब तो कोई दिक्कत नहीं है ना? भरत चक्रवर्ती को भी कहाँ कोई समस्या हुई थी? अरिसाभवन में ही केवलज्ञान हो गया ना? रागरहित धन-माल प्राप्त करने में क्या समस्या है?

उत्तर : यदि धन-माल आदि विषयों पर राग नहीं है, तो उसे प्राप्त करने जाना भी क्यों? और राग नहीं है, तो उसे रखना भी क्यों?

क्या वह राग कोई घाव समान बाहरी पदार्थ है, जो बाहर से दिखेगा? हाँ, बाहर से खुशी आदि उसके लक्षण है, किन्तु मन चोर हो, तो यह खुशी आदि प्रदर्शित ना भी होने दे। किन्तु भीतरी राग के बिना विषय प्राप्त करना कैसे संभव है? और रखना भी कैसे? चतुर बनो।

विषयों पर भीतर से राग का पोषण करके जीवन में विषयों की धून जगाकर पुण्य को पापानुबंधी मत बनाओ; अन्यथा इस दुष्ट राजा की तरह आपका भी निकंदन निकालेगा।

वह पूर्वभव का भिक्षुक साधु के उपदेश से जिनमंदिरों में प्रसन्नतापूर्वक भगवान के दर्शन के पुण्य से यहाँ श्रेष्ठिपुत्र नरसिंह बनकर राजा को प्रिय अवस्था तक पहुँचा है। यद्यपि राजा कपटपूर्वक उसकी हत्या करने हेतु ही प्रेम जता

रहा है, किन्तु वह नरसिंह के लाभ में ही जानेवाला है, क्योंकि उसे पूर्व के वीतराग प्रभु के अमूल्य दर्शन का बल है।

वीतराग की भक्ति का बल हो, तो उसे प्रतिकूलता भी अनुकूलता में परिवर्तित हो जाती है।

राजा की करामत :

नरसिंह के पिता बने सेठ को राजा बार-बार महल में आमंत्रित करता है। आनंदमंगल की बातें करता है। कभी-कभी सेठ की सलाह भी ग्रहण करता है, उसकी बुद्धि के गुणगान करता है और साथ में नरसिंह की योग्यता व गुणों की प्रशंसा भी करता है।

तब, बात-बात में समय होने पर सेठ को उसके मुकाम जाना हो, तब राजा उसे जाने देता है और स्वयं के पुत्र के साथ क्रीडा करने हेतु नरसिंह को वहीं पर रोकने का आग्रह करता है और नरसिंह को भी अति प्रेम देता रहता है।

तब नरसिंह भी भोला भद्रिक बनकर राजा को सज्जन मान लेता है। उसे अन्य विचार ही नहीं होता कि, 'इस राजा को क्या स्वार्थ है कि, जो हम परदेशीयों को इतना मान देता है? हम पर इतना स्नेह बरसाता है? प्राय: दुनिया का कोई भी मानव स्वार्थ के सिवाय कोई कार्य नहीं करता।' नहीं, ऐसा कोई विचार नहीं होता।

'अन्य भी परदेशी यहाँ आये होंगे और उनको राजा ने इतना मान-सम्मान नहीं दिया, किन्तु हमें ही क्यों इतना स्नेह देता है?' भद्रक स्वभाव के नरसिंह को ऐसे कोई विचार नहीं होते।

सेठ वतन में लौटने की आज्ञा माँगते है :

अब सेठ नरसिंह को होशियार बना देखकर अपने वतन में लौटने की तैयारी करके राजा की आज्ञा माँगता है, तब राजा आग्रह करता है कि :

'क्यों जल्दबाजी कर रहे हो? यहीं रह जाओ। क्यों यहाँ आपका व्यापार सुयोग्य नहीं हो रहा क्या?'

सेठ कहते है : 'आपके पसाय से सबकुछ सही चल रहा है।'

राजा : 'तो, घर जाने की जल्दबाजी क्यों कर रहे हो?'

सेठ : 'राजन् ! मेरा परिवार-स्वजन वहाँ है, अत: गृह तो जाना पडेगा ना? जंगम-स्थावर मिलकत भी वहीं है, उनकी भी देखरेख रखनी पडेगी ना? वह सब यहाँ तो नहीं ला सकता। और स्नेहीजनों के मध्य जो सुख है, वह अकेले रहने में नहीं है। आखिर अपना देश तो अपना ही होता है। अत: कृपया अब आज्ञा प्रदान करें।'

राजा देख रहा है कि, उसका खेल बिगड रहा है। वह सोचता है कि, 'यह लोग चले गये, तो इस नरसिंह का काम कैसे तमाम करूँगा? नहीं, कम से कम इस नरसिंह को तो यहीं पर रोकना पडेगा।'

राजा की माँग :

यह सोचकर राजा उस सेठ को कहते है कि, 'आपकी बात भी सही है, किन्तु मुझे और मेरे कुमार को नरसिंह के बिना मन नहीं लगेगा। अत: नरसिंह को कुछ समय तक यहीं रखो।'

सेठ हँसते हुए कहते है : 'राजन् ! सच तो यह है कि, मुझे और उसकी माता को भी उसके बिना एक पल मन नहीं लगता।'

राजा कहता है : 'आपके पास तो जीवनभर रहनेवाला ही है ना? यह तो मुझे विचार मात्र हुआ कि, ऐसा गुणवान और प्रेमालु नरसिंह कुछ वक्त यहाँ रह जाता, तो हमें भी प्रसन्नता प्राप्त हो जाती।'

राजा ने इतना आग्रह किया और इतना भाव जताया कि सेठ को भी मन में विचार आया कि, 'नरसिंह सच में अति भाग्यशाली है, जो राजा भी उसे इतना प्रेम करते है ! और यहाँ राजा की तरफ से अनेक सवलतें प्राप्त हुई है, तो राजा को भी साफ इन्कार भी कैसे करूँ? नहीं तो अनुचित होगा। कुछ ही दिनों की तो बात है। भले ही, नरसिंह यहाँ राजा के पास रह ले।'

सेठ के मन पर दाक्षिण्य का प्रभाव था। अन्यथा नरसिंह पर उसका स्नेह अपार है, उसके मन का वह हार है, आँखो का तारा है, राजदुलारा है; उसे यहाँ रख जाने को जी नहीं चाहता।

सेठानी भी आज्ञा माँगने हेतु साथ में आये थे, अत: सेठ उनसे पूछता है कि : 'क्या करे?'

सेठानी के लिए तो नरसिंह देवप्रदत्त था, उन्हें भी नरसिंह पर अमाप प्रेम था। प्राणतुल्य ही नहीं, प्राणों से अधिक प्यारा था। अत: कहती है कि : 'अरे ! पुत्र को रखकर कैसे जा सकते है? मैं तो उसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती।'

देखो मोह का नाटक। प्यारे पुत्र के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते, किन्तु भगवान के बिना रह सकते हो !

बोलो, आपके भीतर क्या है? भगवान के बिना नहीं रह सकते ना? कहो ना कि, 'नहीं साहेबजी ! परमात्मा के बिना तो हम भी नहीं रह सकते, तभी तो हम प्रतिदिन उनके दर्शन हेतु जाते है।'

क्या आप सत्य बोल रहे हो? प्रभु के दर्शन करने जाते हो, तब परमात्मा के बिना चित्त में अशांति है, चैन नहीं हो रहा, अत: 'कब दर्शन करने जाऊँ? कब दर्शन करूँ?' ऐसी उत्कंठा से जाते हो ना? अन्य मानवों के दर्शन करते वक्त मन खाली सा रहता है ना? तभी कह सकते हो कि, 'प्रभुदर्शन के बिना मुझे चैन नहीं मिलता।'

भगवान से प्रेम करना है? तो यह करो : भगवान के दर्शन में चित्त को एकाग्र बनाओ, अन्य के दर्शन मन को न भाये, अन्य के दर्शन व्यर्थ लगे, भगवान के दर्शन उमडते भाव से होते रहे।

यह कर पाओगे? तो फिर पत्नी के दर्शन, पुत्र-पुत्री के दर्शन व्यर्थ ही लगेंगे ना?

प्रश्न : लगने चाहिए, किन्तु क्यों नहीं लगते?

उत्तर : क्योंकि जहाँ दर्शन मीठे लगते है, उसके बिना चैन नहीं आता। प्रभु के दर्शन खाली जा रहे है, क्योंकि प्रभु के बिना चैन मिल जाता है।

जिसे दुनिया के प्यारे लोगों के बिना चलता नहीं, मात्र परमात्मा के बिना चलता है; उसे भगवान प्यारे है क्या?

सेठ-सेठानी दाक्षिण्य के दबाव में झुक गये :

सेठानी को नरसिंह पर अत्यंत प्रेम है, अत: नरसिंह को राजा अपने साथ

रखने की बात करता है, तब वह सोचती है कि, 'अरे ! नरसिंह को यहाँ रख जायेंगे, तो उसके बिना कैसे जी पायेंगे?'

फिर पुन: विचार करती है कि, 'राजा ने यहाँ अनेक सुविधा प्रदान की है, जिसके कारण अत्यधिक धन अर्जित हुआ है और राजा ने प्रेम भी अत्यंत बरसाया है, तो उनका वचन कैसे लाँघे? कोई बात नहीं, कुछ दिनों के पश्चात नरसिंह को घर बुला लेंगे।'

सेठ भी यही विचार करते है, अत: पत्नी को धीरे से पूछते है कि : 'क्या करें?'

सेठानी कहती है : 'महाराज के उपकारों को भूला नहीं सकते। उनके अत्यधिक उपकार है। कोई बात नहीं। नरसिंह को यहाँ रखते है, कुछ दिनों के बाद उसे बुला लेंगे।'

नरसिंह को रख जाने हेतु माता–पिता तैयार :

सेठ ने राजा को कहा कि, 'ठीक है महाराज ! आपका स्नेह अत्यंत है, यह हमारा अहोभाग्य है ! आपका आग्रह है, तो नरसिंह भले यहाँ रह जाये। किन्तु राजन् ! आप भी जानते हो ना कि, यह हमारा एकलौटा पुत्र है और हम उसके बिना नहीं रह सकते। अत: कुछ दिनों के पश्चात उसे हमारे पासे भेजने की कृपा करें।'

राजा का मन ही मैला है, वह मन ही मन सोचने लगा कि, 'कुछ ही दिनों में युक्तिपूर्वक नरसिंह को परलोक भेज दूँगा, वह भी इस प्रकार कि यह लोग जान भी नहीं पायेंगे कि यह कार्य मैंने करवाया है या किसीने उसका खून कर दिया, मार दिया। यह लोग उसे यहाँ कुछ दिन पर्यंत रखकर जा रहे है, यही बहुत है।'

कपटी मानव के मन को कौन जान सकता है? वह तो अपनी वाणी में इस कदर मीठापन भर देता है कि, सामनेवाला उसके बातों में फँस जाता है, लालायित हो जाता है, उसे इस कपटी के मायाभाव की भनक तक नहीं लगती।

राजा की सफाई :

राजा इस प्रकार मीठी बातें करता है कि, 'आपकी बात भी सही है। आपका तो एकलौटा पुत्र है, अत: आपको उसके बिना मन नहीं लगेगा। किन्तु आप

मेरी बात का स्वीकार कर रहे है, यह आपकी उदारता है। मुझ पर आपका स्नेहभाव, आदरभाव है, अत: कोई फिकर ना करे, कुछ ही दिनों में नरसिंह का वापिस भेज दूँगा।'

'वह भी उसे अकेले नहीं, बल्कि मेरे राजकुमार को भी साथ में भेजना पडेगा, क्योंकि उन दोनों का प्रेम ही इतना है कि मेरा पुत्र आपके पुत्र के साथ आये बिना नहीं रहेगा। यहाँ भी देखो ना, दोनों का स्नेह कैसा अपार है !'

राजा ने भी कैसी मीठी बात कर दी ना? इसमें कपटी राजा के मन की बात भी कैसे जान सकेंगे? कपटी के जाल में जगत फँस जाता है। सेठ-सेठानी भी यह सुनकर प्रसन्न हो गये।

लूँटेरे लोभी जगत को इसी तरह ठगते है। पूरा विश्व लोभ से भरा हुआ है। तभी तो, लोभ के अंधेपन में लूँटेरों की लूँट दिखाई नहीं पडती।

शास्त्रकारों ने इसीलिए लोभ से बचने की बात बताई है। लोभी होने पर ठग का शिकार बनना ही पडेगा। लोभ ही ना हो, तो उसे कोई ठगी कैसे ठग पायेगा?

आज तो पैसा के लोभी, पुत्र के लोभी, मान-सम्मान के लोभी; अनेक लोग ठगे जाने के बाद रुदन करते हुए पाये जाते है। 'वह निर्लज्ज बडी फेक्टरी, बडी कंपनी वगैरह का नाम लगाकर, हमें ही हजारों रुपयों का चूना लगा गया। उस दुष्ट को शर्म भी ना आई।' इस तरह आक्रंद करते है।

अरे ! किन्तु उसकी गलती क्यों देखते हो भाई? तुम ही लोभ में लालायित हो गये, तो तुम्हारी कोई गलती नहीं है क्या? सीधा १२ प्रतिशत का ब्याज प्राप्त हो रहा था, उसके बदले इस फेक्टरी में डालकर ४० प्रतिशत का मुनाफा कमाने की लालच में क्यों गिर पडे?

जगत में सुख के लोभ में ही जीव सगे-संबंधिओं से भी छला जा रहा है, उनके खातिर पुण्य बेचकर पाप की खरीदी कर रहा है !

आप कहोगे कि, '**क्या सगे-संबंधी भी बेईमान है?**'

किन्तु यह तो देखो कि, हमारी पुण्यसंपत्ति को खत्म करवा के, अनेक पापों का कर्ज चढानेवाले धोखेबाज है कि नहीं?

सगे और संबंधी क्या करते है? हमारी तरफ से तमाम क्षेत्र में अनुकूलता प्राप्त करना चाहते है। उसे पूर्ण करने हेतु भी हमें हमारा पुण्यधन खर्चना पडता है और उस व्यापार में परिग्रह-मूर्च्छा, जीवों का आरंभ-समारंभ में सत्यानाश, अन्य झूठ-अनीति आदि पाप, क्रोधादि कषाय, राग-द्वेष आदि अनेक दुष्कृत्य का आचरण करना पडता है। उसमें पाप की धूम आवक, पुण्यधन का नाश और पाप के कर्ज रहेंगे वह अलग।

यह सब किस वजह से होता है? क्या पडोशी या मार्ग में चलनेवाले के कारण? नहीं, पाप होता है वह सगे-संबंधी का लोभ-आसक्ति-ममता है, तभी होता है।

परिवार को क्या ऐसे ही छोड दे? :

प्रश्न : तो क्या सगे-संबंधिओं को भटकते ही छोड दे क्या?

उत्तर : यदि यह प्रश्न होता है, तो साथ में यह सवाल भी क्यों नहीं उठता कि, 'तो क्या इन तमाम की सेवा में और मोह में मैं मेरे पूर्वभव के पुण्य का नाश कर दूँ? और अनगिनत पापों का संचय करके दुर्गतिओं की दु:खद जन्म परंपरा में खुद को झौक दूँ?'

और प्रथम प्रश्न में, 'सगे-संबंधिओं को भटकते' यानि कि संसार की दुर्गतिओं में भटकते नहीं छोडना है, अपितु धर्म की प्राप्ति करवानी है।

शायद वह धर्म की प्राप्ति ना भी कर पाये, तो क्या स्वयं को भटकाना है? शायद संसार त्याग ना भी कर पाओ, तो मन में यह विचारधारा तो बनानी है ना कि, 'ये संबंधिओं के निमित्त मैं दुर्गतिओं की भव-परंपरा में बेहाल बनकर भवभ्रमण ही बढा रहा हूँ।'

क्या शालिभद्र आदि ने परिवार को भटकाया? :

क्या शालिभद्र स्नेही माता और विनयवंत बत्तीस पत्नीओं का त्याग करके साधु बने, तो क्या परिवार को भटकाने का कार्य हुआ? मेघकुमार, अवंतिसुकुमाल, नंदीषेण, सुबाहुकुमार आदि सर्व को निर्दयता से परिवार का त्याग करनेवाला कहेंगे क्या?

कम से कम अंतर से, मन से वस्तुतत्त्व समझकर हृदय से न्यारा-भिन्न बनना भी है या नहीं? या फिर 'सगे-संबंधी मेरे उपकारी, मेरे प्यारे है,' यही समझकर अंधे बनकर आगे बढना है?

समकिती जीव को कैसा कहा गया है?

समकित द्रष्टि जीवडो, करे कुटुंब प्रतिपाल,
अंतरथी न्यारो रहे, जिम धाव खेलावत बाल।

धावमाता आजीविका हेतु राजकुमार के साथ क्रीडा कर रही हो, उसको देख-देखकर प्रसन्न होती हो, किन्तु भीतर में उससे भिन्न ही रहती है। वह अपने पुत्र से भी ज्यादा देखभाल राजकुमार की करती है, किन्तु उसका मन उस राजकुमार से अलग ही रहता है, उसके मन में वह पुत्र की भाँति नहीं बस पाता। उसका मन तो अपने ही पुत्र में अनुरक्त रहता है, उसी के साथ एकमेव बना रहता है, राजकुमार के साथ नहीं।

बस, इसी तरह समकिती आत्मा का मन परिवार आदि से अलग रहता है। हृदय उन्हें अपना नहीं मानता। अपनापन तो परमात्मा और गुरु के साथ व संघ-साधर्मिक साथ ही मानता। भले ही उन सब से अधिक देखभाल कुटुंब-परिवार की करनी पडे, किन्तु वह यही समझता है कि, सगे-संबंधी

(१) मिथ्या मोह और अप्रशस्त राग करवानेवाले है,
(२) पुण्य की कोठरी खाली करवानेवाले है, और
(३) अट्ठारह पापस्थानक का आचरण करवानेवाले है। जिसमें अंततः इष्ट को गँवाना और अनिष्ट की प्राप्ति ही होनेवाली है।

इनमें से कोई भी रागवश हृदय में रह गये, तो सद्गति का पुण्य प्राप्त नहीं होगा और आयुष्य का बंध होते वक्त व परभव जाते वक्त हृदय में रहे, तो सद्गति में जाना नहीं होगा।

सगे-संबंधी नहीं अपितु परमात्मा, गुरु और संघ हृदय में बस जाये, तब पुण्य प्राप्त होता है और सद्गति की प्राप्ति होती है।

हमारा मन परिवार से भिन्न रहता है, अतः वह कर्तव्य बन जाता है, कि जब

परिवार से मोह प्राप्त हो, मान-सम्मान प्राप्त हो, सेवा प्राप्त हो, तब बहकना नहीं है कि, 'अरे वाह ! यह मेरे कैसे हितैषी है !' किन्तु 'सब स्वार्थ की माया है' यही समझना है।

'प्रभु ! मुझे इस मोह के पतन से बचा लेना। आप ही मेरे हो, आप ही मेरे सच्चे तारणहार स्नेही हो।' इस प्रकार प्रभु को मनोमन प्रार्थना करनी है।

अंतर में यदि सचमुच देव-गुरु-संघ बसे है, तो उनकी सेवा का व्यसन लगाये।

यही उत्साह रखे कि, 'उनकी तन-मन-धन से अधिकतम सेवा करूँ।'

हमारी बात थी कि, विश्व धोखेबाजों से धोखा प्राप्त करता रहता है। वैसे ही, नरसिंह भी राजा के अत्यधिक प्रेम व प्रशंसा से छला जा रहा है। वह सोचता है कि, 'इतने बडे राजा मुझ पर कैसा प्रेम बरसा रहे है !' वह राजा की आज्ञा मानता जा रहा है।

राजा भी नरसिंह की कला, कौशल्य व चातुर्य की निरंतर प्रशंसा करता रहता है, क्योंकि उसके मन में तो नरसिंह का संहार करने का षडयंत्र समाया हुआ है, उसकी यही भूमिका है।



७. युद्ध में विजय

नरसिंह को मारने हेतु राजा का षडयंत्र :

राजा ने इस प्रकार प्रपंच रचा कि, अपने ही राज्य की सरहद के राजा को आज्ञा मानने का संदेश भेज दिया। वह राजा भी कैसे मान जाता? उसकी तरफ से उद्धत प्रत्युत्तर प्राप्त हुआ।

जिसे सुनकर राजा नरसिंह को कहते है कि, 'इस राजा ने उद्धताई से जवाब दिया है। तो उसे वश करने हेतु कुमार को सैन्य के साथ भेजना पडेगा। किन्तु राजकुमार में तुम्हारे जैसी चतुराई नहीं है, तू अत्यधिक चतुर है। अत: तुम्हें उसके साथ रहकर सैन्य का नेतृत्व करना पडेगा।'

नरसिंह कहता है : 'कोई समस्या नहीं। जो आप कहेंगे वही होगा। वैसे भी मुझे कुमार के बिना यहाँ अकेले रहना स्वीकार्य नहीं है, अत: उसके साथ ही जाना चाहता था। अब तो आपने भी कह दिया, अत: मैं अवश्य जाऊँगा और सैन्य का नेतृत्व भी करूँगा।'

राजा कहते है : 'अति उत्तम ! अब युद्ध का सुकान तुम्हारे हाथों में ही रखना। कुमार को भी यह बात से अवगत करवा देता हूँ। अत: वह तुम्हें ही नेतृत्व प्रदान करके तुम्हारे कहे अनुसार करेगा।'

'चढ जा बेटा ! शूली तैयार है' जैसी बात है, फिर भी नरसिंह को ऐसा कोई विचार नहीं होता। वह तो सोचता है कि, 'राजा मुझ पर अत्यंत विश्वास करते है, जो उनकी कदरदानी है।'

राजा का वचन हाथ जोडकर स्वीकार लेता है।

राजा का पुत्र व सेनापति को आदेश :

राजा राजकुमार को अंगत में कहता है कि, 'तु युद्ध में नेतृत्व मत करना।

नरसिंह काबिल है, उत्तम कार्य करेगा, अत: उसे ही आगे रहने देना। जिससे युद्ध में यश प्राप्त होगा।'

राजपुत्र उस बात का स्वीकार कर लेता है। उसे भी नरसिंह पर अथाग स्नेह है, अत: राजा के पेट के पाप का परिचय वह नहीं कर पाता। किन्तु यही समझता है कि, 'पिताजी नरसिंह का आदर करते है, यह तो उत्तम है। मुझ से अधिक उसके युद्ध में विजयी होने की आशा है, यह उत्तम ही तो है।'

राजा का उद्देश्य यही है कि, 'यह बनिये का पुत्र नरसिंह युद्ध में आगे रहेगा, तब मरेगा और अपने आप मेरा काँटा निकल जायेगा। फिर दुश्मन के साथ तो समजौता भी कर लेंगे।'

यह सोचकर राजा सेनापति को बुलाकर कहता है : 'युद्ध में नरसिंह को अगवाई देना, किन्तु उसके कारण यदि हमारी हार होती दिखे, तो शत्रु राजा से समजौता कर लेना।'

बस, योजना तैयार हो गई।

राजकुमारी उषा पिता को कहती है : 'पिताश्री ! क्या मैं भाई के साथ युद्ध देखने जाऊँ?'

राजा सोचता है कि, 'यह युद्ध तो करनेवाली नहीं है, तो भले ही चली जाये।' यह सोचकर अपनी संमति प्रदान करते है।

राजकुमार-कुमारी व नरसिंह ने सेना के साथ प्रयाण किया और शत्रु राजा की सरहद तक पहुँच गये। डेरे डाल दिये गये। शत्रु राजा भी वहाँ युद्ध करने पहुँच आया था। दूसरे दिन प्रात:काल में युद्ध शुरु हुआ।

नरसिंह अगवाई कर रहा है।

अगवाई करते हुए नरसिंह कैसे बच पायेगा? :

सोचो, क्या अब नरसिंह बच पायेगा? वह तलवार चलाना, भाला चलाना, बंदूक ताकना; आदि कला से परिचित था। किन्तु अग्रेसर होने के कारण प्रथम घाव उसको ही लगेगा। मान लो, पाँच-सात घाव में बच भी गया, तब भी किसी एक घाव में तो परलोक निकल ही जायेगा ना?

सौभाग्य–आदेय का पुण्य क्या कार्य करता है? :

किन्तु यहाँ उसका पूर्व में परमात्मा के निर्मल–निराशंस दर्शन के सौभाग्य का पुण्य अपना कार्य करता है। वह सेना के सैनिकों पर असर कर रहा है। उसके सौभाग्य से उसके सैनिकों को भी उस पर यह मान प्रगट हो रहा है कि, वह तमाम सैनिक नरसिंह को मध्य में रखकर उसके इर्दगिर्द घेरा बनाकर युद्ध कर रहे है, जिससे दुश्मन का कोई भी आक्रमण नरसिंह तक नहीं पहुँच पाता।

नरसिंह भी सुभटों में जोश जगा रहा है : 'या होम करके लडते रहो, फतेह है आगे।' और उसका प्रभुदर्शन से आदेय नामकर्म का पुण्य भी जीवंत था, अत: उसके जोशजागृत करनेवाले वचनों को ग्रहण करके सैनिक भी भयानक युद्ध करने लगे।

नरसिंह का विजय :

उसमें भी नरसिंह का पुण्य बलवान है, जो सैनिको में जोश भर देता है। अत: उनके ताकतवर आक्रमण के सामने शत्रु सैनिकों का संहार होने के कारण, बाकी बचे सैनिक भी अपना सत्त्व गँवा देते है। नरसिंह शत्रु राजा को पकड लेता है। राजा भी शरण में आ जाता है, और नरसिंह का विजय घोषित होता है।

शत्रु राजा बडे स्वागत के साथ अपनी राजधानी में ले जा कर नरसिंह को राजगद्दी प्रदान करता है, किन्तु नरसिंह अस्वीकार करके साथ में आये हुए राजकुमार को अति आग्रह करके गादी पर बिठाता है। राजा उस राजकुमार का आज्ञापालक बनकर रहता है।

देखा? उस राजा की दानत खराब थी कि, 'नरसिंह युद्ध में मर जायेगा और मेरा कंटक नष्ट होगा।' किन्तु नरसिंह को तो विजेता का मान प्राप्त हुआ।

कहते है ना, 'जिसको राखे साँई, मार न सके कोई' परमात्मा के सुरक्षाकवच के सामने को मानव तो क्या, कुदरत का प्रकोप भी कुछ नहीं कर सकता। धरतीकंप में अनेक लोग आबाद बच जाते है।

अंजार के धरतीकंप में तीन दिन के बाद एक टोकरी की नीचे से जीवंत श्वान प्राप्त हुआ। भूकंप होते ही उस श्वान पर वह टोकरी उल्टी गिर गई होगी

और उस टोकरी पर अन्य भंगार आदि गिर गया था, उस टोकरी के नीचे श्वान जीवित रह गया। किसने रक्षण प्रदान किया? परमात्मा ने, पुण्य ने बचाया।

वैसे ही, नरसिंह को अरिहंत परमात्मा की अति दर्शनभक्ति से परमात्मा का सुरक्षा-कवच भी प्राप्त हो गया था, तो भले ही सामने हजारों सैनिक हो, कोई क्या कर पायेगा? वह तमाम परास्त हो गये, शरण में आ गये।

कुछ समझ आ रहा है? यह कार्य क्या मानव के आधीन है? वह अपनी धारणा अनुसार कर सकता है? तो फिर, वह अचिंत्य कार्य करवानेवाले कौन? उसकी आपको कितनी जरूरत है?

धर्मो रक्षति रक्षितः :

भगवान की शुद्ध हृदय से भक्ति आवश्यक है। फिर तो मानो भगवान स्वयं कहते है कि, 'मैं तुम्हारा सब कुछ देख लूँगा, तू मेरी भक्ति कर, मैं तुझे सम्हालूँगा।' अर्थात् भगवान की निःस्वार्थ भक्ति वह पुण्य जमा कर देती है, जो सब कुछ सम्हाल लेता है, तमाम सुविधा कर देता है। फोटोग्राफर क्या कहता है? 'जी ! आप मुख को उदास नहीं, बल्कि हँसता हुआ रखो, बाकी तमाम कार्य हम देख लेंगे।'

कहा जाता है कि, 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् रक्षा किया गया धर्म, रक्षा करता है। धर्म की आप देखभाल करो, धर्म आपकी देखभाल करेगा।

धर्म ने श्रीपाल को क्या क्या दिया? :

श्रीपालकुमार अकेले ही परदेश गये थे, साथ में भाते का डिब्बा तक नहीं था। वहाँ परदेश में क्या स्वयं ने तनतोड प्रयत्न किये है? फिर भी सहजता से आपत्तियाँ टल जाती है और उन्हें भी सहजभाव से ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होती है। कारण? धर्म उनका बचाव कर रहा है, धर्म स्वयं सामने चलकर सुख-सुविधा प्रदान कर रहा है।

उनका चरित्र देखो, समझ आयेगा कि, मानव के पुरुषार्थ मात्र से असाध्य ऐसे महाबचाव उन्हें प्राप्त होते है, और महासंपत्ति कोई विशिष्ट महाप्रयासों के बिना ही उन्हें मिल जाती है।

अन्यथा, यदि धर्म की तरफ से कोई देखभाल ना होती, तो धवल के सेंकडो

सुभट श्रीपाल के पीछे लग जाये, तब क्या श्रीपाल बच पाते? सुभट परास्त हो जाते? और जब धवल श्रीपाल को जहाज के आधाररहित झरोखे पर चढाये और वह झरुखा नीचे झुकने के कारण श्रीपाल सीधा समंदर में जा गिरे, वहाँ समंदर में गिरने के बाद भी क्या वह बच पायेंगे?

किन्तु 'धर्मो रक्षति रक्षित:' वह नीचे तो गिरे, किन्तु उन्हें धर्म की सहायता है, फलत: वह एक विशाल मगरमच्छ की पीठ पर गिर पडे। कौन जाने क्या हुआ कि, धर्म को मात्र इतना ही रक्षण प्रदान नहीं करना, अपितु इस निमित्त से श्रीपाल को थाणा के राजा जो प्रतीक्षा करते हुए बैठे है, उनके पास पहुँचा देना है, और उनकी कुँवरी के साथ विवाह करवाना है। वह मगरमच्छ को सुरक्षाकवच के स्वरूप में उसी वक्त वहाँ पहुँचाने का कार्य भी कर दिया ना?

श्रीपाल के जीवन में ऐसी अनेक अजीब घटना हुई है। उन सब में प्रभाव किसका है? धर्म का।

यहाँ भी देख सकते है ना? विश्व में लाखों बालक जन्म प्राप्त करते है। किन्तु कुछ श्रीमंत के गृह जन्म प्राप्त करते है, गर्भ से श्रीमंत होते है। वह जन्म किसके कारण प्राप्त हुआ? क्या जीव स्वयं की चतुराई से परभव से चलकर यहाँ आ कर श्रीमंत के गृह में गया?

यदि ऐसा होता, तो अनेक चतुर जीव गरीब या मध्यम परिवार में जन्म प्राप्त करते है, ऐसा क्यों होता? क्या स्वयं ने ही गरीब-मध्यम कुल पसंद किया? उसे पूछो कि, 'आपने जन्म प्राप्त किया, उसमें आपको खुशी है? यहाँ आप स्वयं की चतुराई से आये हो क्या?' नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। धर्म के प्रभाव से ही श्रीमंत के गृह में जन्म प्राप्त होता है। तभी तो,

आगे भी उत्तम जन्म, उत्तम सुविधा और उत्तम रक्षण की आकांक्षा है, तो यहाँ धर्मसंपत्ति जमा करते रहो।

प्रभाव धर्म का अर्थात् परमात्मा का :

एक जन्म में भिखारी ने धर्म के रूप में अंतरमन से अरिहंत परमात्मा के दर्शनमात्र किए है, जिसके कारण यहाँ राजा के द्वारा उसकी हत्या करने के

अनेक प्रयत्न के बावजूद उसे चमत्कारिक रक्षण-बचाव और उत्तरोत्तर उत्तम स्थिति प्राप्त हो रही है।

तब जिनके दर्शन से यह होता रहा, उस अरिंहत परमात्मा का कैसा अजब प्रभाव ! उत्तरोत्तर उत्तम स्थिति भी कैसी कि ब्राह्मण से भी अधिक माली के गृह परमात्मा द्वारा प्रदत्त बालक के रूप में अति प्रेमपूर्वक और उससे भी अधिक सेठ के गृह में प्रेम प्राप्त किया।

और अब तो राजा का और राजपुत्र का प्रियपात्र बनकर राजा के बताये अनुसार युद्ध में गया और राजा ने उसकी मृत्यु की चाहना की थी, फिर भी विजय की वरमाला ग्रहण करता है। और अब देखो कि कैसे विपरीत संयोग में उसे राजकुमारी से विवाह का योग प्राप्त होता है !

राजा का बेबाकपन :

हुआ यूँ कि, नरसिंह के विजयप्राप्ति के समाचार राजकुमार की तरफ से तात्कालिक राजा को पहुँचाये गये। अत: राजा तो मन ही मन बेबाक बन गया कि, 'अरे ! यह क्या हो गया? बनिये का पुत्र और विजेता?'

उस मूर्ख को ज्ञात नहीं है कि, 'बनिये का पुत्र, बनिये का पुत्र' क्या कर रहा है? उसके पुण्य का अत्यंत प्रभाव है, और तुम्हारा पुण्य खत्म होता जा रहा है।'

राजा दिल में जलता है कि, 'मैं उसके मृत्यु की योजना बना रहा हूँ और वह उल्टा अधिक यशस्वी बनता जा रहा है ! तो क्या यह मेरा वारिस बनेगा? मेरे पुत्र के बदले क्या वह मेरी गादी पर बैठेगा?'

नहीं, मैं यह बिलकुल नहीं होने दूँगा। उसे मरवाना ही है, किन्तु हत्यारे को भेजकर नहीं। क्योंकि पूर्व में भी दो बार हत्यारों को भेजा था, पर उन हत्यारों ने अपना कार्य पूरा नहीं किया होगा। अत: अब क्या भरोसा कि पुन: मेरा कार्य करके ही लौटेंगे? अत: अब पुत्र के द्वारा ही यह कार्य करवाना होगा। वह मेरी आज्ञा का सही पालन करेगा।'

देखो राजा का बेबाकपन और पागल अवस्था। मन में यह बात है कि, 'नरसिंह मेरा वारिस नहीं बन सकता।' और उसको खत्म करने हेतु न जाने कितने भयानक विचार और भयानक प्रयत्न करता है ! अपनी पाट पर कौन

राजा बनेगा, यह तो दुन्यवी बात है। उस चिंता में राजा का दिमाग क्रूर विचारों को पैदा करता रहता है।

दुन्यवी बातें भी कैसी खराब है कि वह भयंकर कषाय के विचार ले आती है !

राजा के मन में यह द्रढ हो गया कि, 'नरसिंह मेरा वारिस नहीं बन सकता।' बस, इस बात पर कितने क्रूर विचार ! उसे मार डालने हेतु तत्पर हो चूका है !

पुत्र के मन में होता है कि, 'मेरी माता मेरी पत्नी को क्यों इतना बोलती रहती है?' बस, इसी बात पर जन्मदाता और बरसों की उपकारी माता का त्याग करने तक के विचार कर लेता है।

'बडा भाई क्यों इतना बडप्पन दिखाता है?' बस, इसी बात पर छोटा भाई विवाद का बहाना खोज लेता है।

दुन्यवी बातें ही इस प्रकार भयानक है कि अयोग्य, अशोभनीय विचारों में प्रवृत्त कर दे और फिर अयोग्य, अशोभनीय वर्तन भी करवाती है ! तभी तो,

अशोभनीय विचार–वर्तन से बचना हो, तो यही उपाय है कि दुन्यवी बातों को महत्त्व ही ना दे।

इसमें कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि मन का ही सवाल है। मन को मना लेना है। मन में यदि यह विचार हो कि, 'गलत कैसे सहन करे?' किन्तु वहाँ यह विचार करना कि,

कर्म का भी कितना गलत क्यों सहन करता है? :

संसारी जीवन अर्थात् कर्मवश जीवन। हम कर्म के आधीन है, कर्म हमारे आधीन नहीं है, जिससे हमारी इच्छानुसार कर्म हमारे अनुकूल रहे। कर्म जो करता है, वही होता है। अत: हमें भी कर्मप्रदत्त स्वीकार करना ही चाहिए।

जब कर्म द्वारा निर्धारित परेशानीयाँ आती है, तो उसका अस्वीकार करने के कारण ही हम दु:ख बढाते है।

(i) एक तो कर्म द्वारा प्रदत्त और
(ii) उपर से हमारे मन से संताप का दु:ख,
यह मूर्खता करना उचित है क्या?

- कर्म के निश्चित परिणाम निभा लेना सिख लो, तो मन को कोई दु:ख नहीं होगा।
- यदि मन को कोई दु:ख ही नहीं होगा, तो कर्म का दु:ख दु:खरूप भी नहीं लगेगा।
- दु:ख होना अलग बात है, दु:ख लगना अलग बात है।

महावीर भगवान को कर्म द्वारा अनेक दु:ख हुए, किन्तु प्रभु ने मन में दु:ख नहीं लगाया, दु:ख का अनुभव नहीं जताया; तो वह कर्म उन्हें दु:खरूप नहीं लगे। इसी कारण अनेक दु:खों में भी प्रभु दु:खी नहीं थे, मन से सुखी थे। बस, **मन का दु:ख मिट जाये, तो सुख, सुख और सुख ही है।**

तभी तो, 'जयवीयराय' सूत्र में प्रभु के पास जो 'दुक्खक्खओ' की याचना करते है, वह इसी मन के दु:ख का क्षय माँग रहे है।

मन के दु:ख कौन से? :

चिंता-संताप, व्याकुलता, संकल्प-विकल्प, हिचकिचाहट, राग-द्वेष-कषाय, असमाधि-दुर्ध्यान... आदि मन के दु:ख है। उसे भावदु:ख भी कहा जाता है।

बाह्य पैसा की अछत, अन्य अडचनें, भूख-प्यास, व्याधि, पराधीनता, अपमान आदि द्रव्यदु:ख है, जबकि संताप-राग-द्वेष-असमाधि-हिंसा-झूठ आदि भावदु:ख है। प्रभु के पास 'दुक्खक्खओ' से यह भावदु:खों का नाश माँगा जाता है। वह हो जाये, फिर हम दु:खी नहीं है, भले ही बाह्य से कैसी भी आपत्तियाँ आ न पडे !

मेघमुनि ने मन का दु:ख टाल दिया तो...

मेघकुमार मुनि को चारित्र ग्रहण की प्रथम रात्रि में ही बाहर आवागमन करनेवाले मुनिओं के चरण की रज उनके संथारे में आने लगी, संथारा धूल से कर्कश होने लगा। मन में दु:ख हुआ, व्याकुलता होने लगी, संकल्प-विकल्प होने लगे, काया को-स्पर्शनेन्द्रिय को कोमलता के राग में इस कर्कशता की तरफ द्वेष उत्पन्न हुआ। अत: वह दु:खी हो गये।

किन्तु प्रात: काल में जब प्रभु ने समझाया कि पूर्व के हाथी के भव में एक खरगोश की दया का विचार करके भी ढाई दिन तक पैर उपर उठाकर

भयावह क्षुधा-तृष्णा व मृत्युपर्यंत घोर कष्ट को सहन करते वक्त लेशमात्र मन में दु:ख नहीं हुआ, मन को स्थिर रखा और अब यहाँ मनुष्य के भव में, उच्चावतार में मुनिओं के पाँव की रजमात्र से मन में क्या दु:ख लगाना? अहोभाग्य मानना है कि,

'अहो ! ऐसे महान संयमी ब्रह्मचारी की चरणरज मुझे प्राप्त हो रही है ! मेरा सद्भाग्य है।' प्रभु ने खरगोश की दया का महान फल बताते हुए कहा कि,

'भो मेहा ! ताए पाणाणुकंपाए परित्तीकओ ते संसारो।'

'हे मेघकुमार ! तुमने प्राणी की दया (मात्र) से तुम्हारे संसार को (भवभ्रमण) को मर्यादित कर दिया है। तो, यहाँ कष्ट में भी साधुओं प्रति भक्तिभाव से कैसे महान फल को प्राप्त करोगे?'

'मरणांत कष्ट में भी मन में इस प्रकार दु:ख लगाकर दया के सुकृत का नाश नहीं किया कि, 'हाय ! यह मैंने क्यों दया पाल ली, जिसे कारण मुझे यह दु:ख आ पडा?' तो अब यहाँ क्यों मन के दु:ख से साधु की भक्ति और कर्मनिर्जरा का अवसर गँवाना चाहते हो?' सुकृत तो होते ही है और होनेवाले भी है, किन्तु मन में दु:ख लगा देने से सुकृत का नाश होता है।

पुत्र को सद्बुद्धि से बडा करना सुकृत ही हुआ, किन्तु बाद में 'हाय ! इस उद्धत को मैंने क्यों जन्म दे दिया?' यह सोचोगे, तो सुकृत पर द्वेष होगा, जो सुकृत को जला देता है।

बस, प्रभु के वचन सुनकर मेधकुमार मुनि का दु:ख गायब हो गया, काया की कोमलता का राग नहीं रहा, असमाधि-आर्तध्यान-संकल्प-विकल्प आदि भावदु:ख टल गये। अब वह तमाम दु:ख नष्ट हो गये। साधु तरफ से आनेवाले समस्त कष्टों का बचाव ना करते हुए सहर्ष स्वीकार करने का अभिग्रह किया। मात्र चक्षु पर होनेवाले कष्ट को बचाने के छूट रखी।

दु:ख में सुखी : सुख में दु:खी : मनोदु:ख कैसे टल सकता है? :

बात यही है कि, मन में दु:ख ना लगाओ, भावदु:ख को स्थान मत दो। तो आप दु:ख में भी सुखी; और मनोदु:ख-भावदु:ख को स्थान प्रदान करोगे, तो सुख में भी दु:खी और दु:ख में तो महादु:खी। पूछो :

प्रश्न : तो यह मनोदु:ख-भावदु:ख कैसे टल सकते है?

उत्तर : कर्म प्रदत्त आपत्तिओं का स्वीकार करना, निभा लेना सिखने पर मनोदु:ख नहीं होगा।

'स्वीकारना' या 'निभाना' अर्थात् यह दीनता नहीं है कि, 'हाय ! क्या करें भाई? दु:ख आया है, तो निभा लो।'

निभा लेना अर्थात् शाहखाता अनुसार स्वीकार लेना।

दु:ख आया है? फिकर नहीं, भुगतान का हिसाब है। पूर्व में अज्ञानता के कारण गलत व्यापार-व्यवहार करके कुसंस्कार जमा किये है। अब वह कुसंस्कारों का नाश तभी होगा, जब उन गलत व्यवहारों के कारण निर्मित कर्मों के फल को सहर्ष स्वीकारा जाये, उदार मन से निभाया जाये।

चार पुत्रों में चतुर पुत्र अधिक धनोपार्जन करता हो और गृह का वहन करता हो, किन्तु स्वभाव का गर्म हो, तब भी उसका स्वभाव बाप निभा लेता है। मन को मना लेता है कि, 'भले ही स्वभाव का गर्म है, किन्तु स्नेहशील, मेहनती और चतुर है, अत: उसके स्वभाव को अनदेखा करना है, उसके स्वभाव से दु:खी नहीं होना है।'

बस, इसी तरह जीवन में जब भी आपत्तियाँ-कठिनाईयाँ आ पडे, तो मन में यही विचार करना है कि, **'भले ही यह आपत्तियाँ-कठिनाईयाँ आ पडी है, किन्तु यह जन्म नवकार-स्मरण, देवदर्शन-गुणाभ्यास आदि अन्य अनेक प्रकार से अति उपयोगी है।'**

महामंत्र नवकार की आराधना, देवदर्शनादि अनंत कल्यालकर साधना, व्रत-नियम-तपस्या, महापावनकारी जिनवाणी का श्रवण, सर्वोच्च ध्येय अरिहंत का स्मरण, ध्यान, क्षमादि गुणों का अभ्यास... आदि इस जन्म में ही हो सकते है। अत: आपत्तियाँ-कठिनाईयाँ के सामने नहीं देखना है, उनसे त्रस्त नहीं होना है, बल्कि सहर्ष स्वागत करना है।

यदि इस प्रकार दु:ख का स्वागत करना सिख लिया, तो हमें कर्म द्वारा प्रदत्त आपत्ति पर रोने का मन नहीं होगा, उस पर व्यर्थ विचार भी नहीं होंगे।

दुन्यवी बातों को निभाना ना आया, तभी तो दुष्ट विचारों के गुलाम बना जाता है :

दुन्यवी बात मन में आने के बाद उस पर दुष्ट विचार क्यों होते है? कारण है : उसे निभाना नहीं आता। दुन्यवी बात कर्म के आधीन अर्थात् वह निर्धारित कर्म के प्रताप से बनेगी ही बनेगी, किन्तु उसे जिसने निभाना नहीं सिखा, वह जीव उस पर स्वयं ही खराब भाव और पापकार्य करता है। इर्ष्या, मद, हिंसा, संकल्प-विकल्प, दुर्ध्यान आदि अनेक पापों का सेवन करता है।

यह सर्व भावदु:ख है, भावआपत्ति है। वह भावआपत्ति कर्म ने नहीं दी, जीव ने स्वयं ही स्वयं के असत् पुरुषार्थ से बनाई है। तब, पूर्व में कहे अनुसार, इस उत्तम भव की उत्तम और अनेक विशेषताओं को मन में रखा जाये और कर्म को परवश दुन्यवी बातों को निभाने का कार्य करे, तो वह भावदु:ख इर्ष्यादि दुष्टभावों से कोई समस्या नहीं होगी, मन में किसी का स्थान भी नहीं रहेगा।

बस, भावदु:ख को टालने की यही चाबी है :

(१) कर्म के आधीन बातों को निभा लेना सिखो।

(२) जीवन की अनेकविध धर्माराधनाओं, सद्गुण और सद्विचारों का ही महत्त्व करो।

(३) 'कर्म प्रदत्त दु:ख, दु:ख नहीं है, किन्तु हमारे द्वारा उस पर संताप, झनझनाहट और कषाय, संकल्प-विकल्प और दुर्ध्यान ही दु:ख है, महादु:ख है,' इस बात को ध्यान में रखकर उसके असत् पुरुषार्थ नहीं करने का निश्चय करो।

यह तीनों बातें ध्यान में रहेगी, तो भावदु:ख अर्थात् दुष्ट विचार-वाणी-वर्तन करने से बच पाओगे।

वह राजा 'क्या यह नरसिंह परराज्य पर विजय प्राप्त करके अब मेरा वारसदार बनेगा?' इस दुन्यवी बात पर बेबाक बन गया है। उसे यह निभाना नहीं आया कि, 'यदि कर्म का ही यह संजोग है कि, मेरे बाद नरसिंह ही राजा बनेगा, तो मुझे उस बात का स्वीकार कर लेना चाहिए।'

'मेरे लिए जीवन में उत्तम करने हेतु व उत्तम की प्राप्ति करने हेतु अनेक पदार्थ है, तो इस निर्धारित बात में अमूल्य मानवसमय-शक्ति व मन को बरबाद ना करूँ।'



८. नरसिंह को 'विष' या 'उषा'?

नहीं, यह नहीं सोच सकता, तभी तो राजा सोचता है कि, 'अब इसको हत्यारे के द्वारा नहीं मरवाना, क्योंकि हत्यारे का कोई भरोसा ही नहीं है। अत: मेरे ही पुत्र के हाथों जहर दूँ। पुत्र भी मेरा आज्ञांकित है, अत: उसे आदेश देने पर तुरंत ही अमल करके उसे जहर दे देगा।'

यह विचार करके राजा ने तुरंत पुत्र को पत्र लिखा कि, 'नरसिंह को अन्य कोई विचार ना करते हुए तुरंत ही विष दे दो।'

पुत्र पर विषदान की चिट्ठी :

भरोसेमंद सेवक को वह पत्र कुमार के हाथों में ही देने हेतु राजा ने भेजा और यह भी कहा कि, 'ध्यान रहे, यह पत्र अन्य किसी के हाथ में नहीं जाना चाहिए। किसी को इस पत्र के विषय में ज्ञात नहीं होना चाहिए और कुमार को कान में कहना कि यह पत्र एकांत में ही पढे।'

मानव भी कितना पामर बन जाता है कि, कर्म के सामने अपनी इच्छानुसार होने की धारण कर बैठता है ! वह सेवक पत्र लेकर निकल गया।

राजा को विजय के समाचार मध्याह्न के बाद प्राप्त हुए थे और तत्पश्चात तत्काल विचार करके पत्र के साथ सेवक को शाम के वक्त भेज देता है। अत: सेवक को वापिस लौटने के पूर्व ही मार्ग में ही रात्रि हो गई। वह रात्रि के वक्त मार्ग में ठहरने हेतु कोई स्थान ढूँढता है।

अनंतबली प्रभु का दर्शन बलवान पुण्य प्रदान करता है : यक्ष की सहाय :

नरसिंह का पुण्य बलवान है, क्योंकि अनंतबलवान अरिहंत परमात्मा का शरण ग्रहण किया था, अत: संजोग से उस सेवक को उसी नरसिंहयक्ष का मंदिर ही रात्रिविश्राम हेतु प्राप्त हुआ !

वह वहाँ चला जाता है, थकान के कारण गहरी निद्रा में सो गया। वहीं पर यक्ष ने सहजता से दिव्यज्ञान का उपयोग रखकर देखा कि, 'वह कौन है? यहाँ क्यों सो रहा है? कहाँ जा रहा है?'

दिव्यज्ञान से यक्ष को ज्ञात हो गया कि, 'अरे ! यह तो मेरे प्यारे नरसिंह को विष प्रदान करने का पत्र ले जा रहा है। मैं यह नहीं होने दूँगा। किन्तु अब फिकर नहीं, उसके पत्र में 'विष' के बदले 'उषा' शब्द लिख देता हूँ।'

यक्ष ने पत्र निकालकर उसमें 'विष' के बदले 'उषा' शब्द लिख दिया और पत्र पुन: सेवक के खलीते में रख दिया। वह सेवक तो गहरी नींद सो रहा था, उसे तो इस घटना की कोई भनक तक नहीं लगी। वह तो प्रात:काल में उठा और राजा का पत्र सलामत देखकर निकल पडता है। अश्वारूढ था, अत: शीघ्र ही पहुँच गया और राजकुमार को पत्र प्रदान करके एकांत में पढने की बात बता देता है।

नरसिंह को विष या उषा? :

राजकुमार एकांत में वह पत्र पढता है, जिसमें यह लिखा पाता है कि, 'नरसिंह को अन्य कोई विचार ना करते हुए तुरंत ही उषा दे दो।' नीचे पिता के हस्ताक्षर है। यह पढकर तो राजकुमार के आनंद की कोई सीमा ही ना रही। क्योंकि उषा उसकी बहन थी और वह भी युद्ध देखने हेतु साथ में आई थी। उसके मन में हुआ कि,

'अहो ! पिताश्री कितने उत्तम कदरदान और गुणज्ञ है ! उन्होंने यह उत्तम विचार किया है। क्योंकि ऐसा पराक्रमी और गुण का भंडार नरसिंह मिल गया है, तो अब उषा हेतु अन्य विचार भी क्यों करना? नरसिंह के बदले अन्य कोई बडा राजकुमार भी उत्तम वर के रूप में मिल ही नहीं सकता। और अन्य किसी बडे राजा का प्रस्ताव आ पडे, तो उसकी परीक्षा-छानबीन में क्यों समय व्यर्थ गँवाना? अत: उषा का विवाह तुरंत ही नरसिंह के साथ करवा देना उत्तम लिखा है।'

बस, राजकुमार ने तो पिता की समयसूचकता और कदरदानी समझकर अपनी बहन उषा का स्वीकार करने हेतु नरसिंह के सन्मुख प्रस्ताव रख दिया।

पवित्र पुण्य, उसके लाभ पर लोभायमान नहीं करता :

नरसिंह तो पवित्र पुण्य ले कर आया था, अत: पुण्य के लाभ पर लालायित होनेवालों में से वह नहीं है। यह तो हीन पुण्यवालों का काम है कि पुण्य के लाभ पर बडी लालच कर देते है और उस लाभ प्राप्ति के बाद विषयलंपट भी बन जाते है, अभिमानी बन जाते है। वह जीव मृत्यु तक अपने महादुर्गुणों का त्याग नहीं करते।

नरसिंह के पास तो पवित्र पुण्य है, क्योंकि पूर्व में अरिहंत प्रभु की दर्शन-भक्ति पवित्रता से की थी। उसे मुनि मिलने के बाद भीख में जो प्राप्त हो, उसमें संतोष था। अत: देवदर्शन करके उसके बदले में उसे भोजन आदि की कोई अपेक्षा ही नहीं थी। यह परख है :

पुण्य के लाभ पर लालच क्यों? क्योंकि वह पुण्य भी मैला ही था।

प्राप्त किया उसमें संतोष नहीं, तभी तो धर्म आशंसासहित मैला किया जाता है, पवित्र धर्म करने हेतु जो प्राप्त हुआ है, उसमें संतोष होना चाहिए। पवित्र धर्म से पवित्र पुण्य प्राप्त होता है।

नरसिंह के पास पवित्र पुण्य है। अत: राजकुमारी की लालच नहीं है। अत: वह कहता है कि, 'मित्र ! यह बात मत कर। मैं वणिकपुत्र हूँ, राजकुमारी के साथ विवाह करने हेतु मेरी कोई योग्यता ही नहीं है। वह तो बडे राजा-राजकुमार के साथ ही वरने योग्य है।'

राजकुमार कहता है : 'भले ही तुम वणिकपुत्र हो, किन्तु यहाँ युद्धविजय में तुम्हारी योग्यता साबित हो चूकी है। अत: तुम्हें उषा का स्वीकार करना ही पडेगा।'

फिर भी नरसिंह नहीं मानता, तब राजकुमार कहता है : 'अच्छा यह बताओ, पिताजी का आदेश तुम्हें मान्य है या नहीं?'

नरसिंह को राजा के पत्र की जानकारी नहीं थी, अत: वह कहता है : 'अवश्यरूप से उनका आदेश मुझे मान्य ही है।'

राजकुमार कहता है : 'तो फिर यह देखो, पत्र पढो।'

नरसिंह को पत्र प्रदान करके कहता है : 'यह भरोसेमंद सेवक ही पत्र ले कर आया है।'

नरसिंह ने पत्र पढा। अब उसके पास दलील करने योग्य कोई अवकाश ही ना रहा और इस प्रकार राजकन्या के साथ नरसिंह का भव्य विवाह महोत्सव हुआ।

राजा की क्या विचारणा थी? और क्या हो गया? राजा के मन नरसिंह को विष प्रदान करने की बात थी, उसके बदले उषा दे दी गई।

पापीओं की उल्टी सोच, पुण्यवान के लिए सीधी बन जाती है।

- धन्नाजी की कमाई से बडा भाई उसका भाग अलग करवा लेना चाहता था, इसीलिए और पिता को भी परेशान करता था अत: धनाजी पहने हुए वस्त्रों के साथ प्रात:काल में चूपचाप निकल गये, किन्तु आगे जा कर राज्य व राजकन्या को प्राप्त किया ! पापी का गलत विचार धर्मी के लिए सीधा साबित हुआ।
- मयणासुंदरी की तत्त्ववाणी पर क्रोधित हो कर पिता प्रजापाल राजा ने भटकते हुए कुष्ठरोगी के साथ उसका विवाह करवा दिया, किन्तु वह श्रीपालकुंवर निकला ! पापी विपरीत विचार करता है, परंतु पुण्यवान के लिए वह सही साबित हो जाता है।
- कूरगडु मुनि के पात्र में अभिमानित तपस्वी मुनि थूँकते है, फिर भी उसी थूँक पर कूरगडु मुनि उत्तम भावना में आरुढ हो कर केवलज्ञान की प्राप्ति कर लेते है !
- यहाँ राजा ने भी नरसिंह को विषपान की धारणा की थी और वही पत्र में भी लिखा था। किन्तु उस तरफ नरसिंह को उषा दे दी गई !

अब राजकुमार कहता है : 'चलो, अपने घर लौट चलते है।'

अत: विजय प्राप्त हुआ वह राज्य, वहाँ के राजा को आज्ञांकित बनाकर सौंप दिया और नरसिंह के साथ सभी लोग पुन: धूमधाम से अपने राज्य में प्रवेश करते है। नरसिंह महल में जा कर राजा को नमस्कार करता है, तब राजा चौंक उठा कि, 'अरे ! यह क्या? यह जीवित कैसे रह गया? क्या सेवक ने मेरे पुत्र को पत्र नहीं दिया होगा? या पुत्र ने उसका अमल नहीं किया?'

राजा को अपने ही पत्र पर आश्चर्य :

राजा तो विभ्रान्ति में है, तभी राजकुमार भी नमस्कार करके वह पत्र राजा

को प्रदान करते हुए कहता है : 'पिताजी ! आपने विजयी नरसिंह की उत्तम कदर की है। आपके आदेशानुसार उनके साथ उषा का विवाह करवाया है। अब उन दोनों को आप आशीर्वाद दीजिए।'

राजा ने पत्र देखा। उसमें स्पष्ट लिखा था कि, 'नरसिंह को अन्य कोई विचार ना करते हुए तुरंत ही उषा दे दो।' यह देखकर राजा तुरंत चौंक उठा कि, 'अरे ! यह क्या?' मन में तो यही विचार हो रहा था कि, 'मैंने तो 'विष' लिखा था, उसके बदले 'उषा' कैसे हो गया?'

किन्तु यह विचार बोल तो नहीं सकता था। क्योंकि अब लोक में अच्छा दिखावा करने हेतु भी मन ना होने के बावजूद इस बात का स्वीकार करना ही पडा। और नरसिंह व उषा के मस्तिष्क पर हाथ रखकर, दिखावे की प्रसन्नता जताकर आशीर्वाद भी प्रदान करना पडा। नरसिंह को कहता है : 'समृद्धिमान, यशस्वी, आयुष्यमान भव।'

और उषा को कहता है : 'अखंड सौभाग्यवती भव।'

पुत्री विधवा भले हो, पर राज्य का वारसदार कोई और ना हो :

नरसिंह को राजा ने चिरंजीवी बनने का नकली आशीर्वाद तो दे दिये, किन्तु उसके मन में अभी भी यही बात चल रही है कि, 'तु तो जल्दी मर ही जा।'

मन में सोचने लगा कि, 'अभी भी देर नहीं हुई है, इसको जल्द से जल्द मरवा दूँ। पुत्री भले ही विधवा हो जाये, वह तो छोटा सा कलंक है, किन्तु मेरी गादी का वारिस कोई और बने वह विशाल कलंक है। क्योंकि मैं राजाओं में हीन साबित हो जाऊँगा और इतिहास में भी मेरी हीनता होगी।'

सीधी विचारणा की अक्कल :

दुराग्रह ही है ना? डोर की गिठान सुलझाने के बावजूद, वह डोर अपने मुडे हुए रूप का त्याग नहीं करती। कुत्ते मी दूम को सीधी शीशी में रखने के बावजूद वह टेढी ही रहती है। वैसे ही, यह राजा अभी भी मोहमूढता का त्याग नहीं करता। नरसिंह को खत्म करने के भावों का त्याग नहीं करता। यह मूढता नहीं तो क्या है?

मूढता ना होती, अक्कल होती तो समझ लेता कि, 'चार-चार बार उसे मारने का कार्य करता हूँ, फिर भी वह आगे ही बढता जा रहा है। युद्ध में मरने हेतु भेजा, तो उल्टा विजय प्राप्त करके आ गया। विष देने की बात लिख दी, तो मेरा ही जमाई बन बैठा, वह भी मेरे ही पत्र के आधार पर ! वाह रे देव ! मेरे ही पुत्र के हाथों मेरी पुत्री को दिलवा कर जमाई बना दिया।'

'तो अब मुझे भी समझ लेना चाहिए कि, यह बडे भाग्य का मालिक है, तो भले ही उसके भाग्य के जोर पर मेरा वारिस बने।'

'और लोक में अब मेरी हीनता नहीं होगी कि, देखा? राजा की गादी पर कोई भी हालीमवाली जा बैठा ! लोगों ने इसके विजय की बातें सुनी है, और अब यह मेरा जमाई भी बन चूका है, तो कोई बात नहीं, भले ही वह मेरा वारिस बन जाये।'

नहीं, राजा को यह कुछ भी नहीं सोचना। क्योंकि वह तो महामूढ बन बैठा है। उसे बस यही अंधा मोह है कि, 'यह नरसिंह मेरा वारिस नहीं बन सकता।'

दुनिया में मोह क्या कार्य करता है? :

मोह यानि? अज्ञानदशा, विपरीत मान्यता, मिथ्या विकल्प। जिसमें फँसा हुआ जीव अवसर पर भयंकर कृत्य कर बैठता है, और यह अवसर ना मिले तब तक भी भयंकर विचार तो करता ही रहता है।

मिथ्या विकल्प और विपरीत मान्यता का प्रभाव ही ऐसा है कि उसकी जकड में फँसने पर पतन हुआ ही समझो।

आज के युवावर्ग को मिथ्या विकल्प हुआ कि, 'मेरी पत्नी को माता की तरफ से कोई अडचनें नहीं होनी चाहिए।' फिर वह यह नहीं सोचेगा कि, 'यह रोकटोक क्यों है?' वह तो पत्नी के विपरीत वर्तन को ही सीधा मानकर माता को भी खराब स्वभाव की मानेगा और माता को कटुवचन बोलेगा और माता का ही त्याग तक कर देगा।

आज के धर्मी माने जाते जीव भी भाई, चाचा या अन्य रिश्तेदारों के साथ बवाल क्यों मचा देते है? इसीलिए कि इस प्रकार के कोई मोह-मिथ्याविकल्प की जकड में फँस गये है कि,

(१) यह मेरा खा रहा है या खा जायेगा,

(२) पहले तो इनकी जरुरत थी, अब कोई जरुरत नहीं,

(३) उसने मेरा बिगाडा है, या

(४) यह तो स्वार्थी है।

इस प्रकार की विकल्प की जकड में फँसने पर बवाल-विरोध-दुश्मनी करे, उसमें आश्चर्य भी क्या?

विकल्प मिथ्या क्यों? :

(१) वास्तविकता में तो स्वयं की कल्पना ही मिथ्या है, क्योंकि समझे तो 'बाहरवालों से भी अधिक यह रिश्तेदार निकट है। अत: 'मेरा खा जाते है,' यह मानना ही गलत है।

इस प्रकार तो बाहर के अनेक अरे ! साला, जमाई आदि भी नहीं खाते क्या? किन्तु वह गलत नहीं लगता। और यह निकट के भाई आदि हेतु वही लगता है ! कलिकाल की बलिहारी है ! अन्यथा निकटवर्ती के लिए तो दिल उदार ही रहता है कि, 'यह तो मेरा खाने हेतु हकदार है।'

(२) अब यह जो माना कि, 'मुझे अब इनकी जरुरत नहीं है,' यह मानना भी गलत है, क्योंकि,

(i) पूर्व में जरुरत थी, तो उसका लाभ ग्रहण किया, तो अब कृतज्ञता के आधार पर भी उस व्यक्ति की कुछ सेवा करने हेतु विशेष संबंध की आवश्यकता है, और

(ii) दूसरी बात यह भी है कि, भले ही अब उसकी जरुरत नहीं है, किन्तु किसे पता आगे कब पुन: उसी व्यक्ति की आवश्यकता पड जाये?

प्रश्न : तो आवश्यकता होने पर संबंध रख सकते है ना?

उत्तर : संबंध कैसे रख पाओगे, वह ज्ञान है? संबंध तोड दिया, विरोध रखा, बोलने का संबंध नहीं रखा; अत: एकबार तो सामनेवाले के हृदय को दु:ख दिया, अब पुन: आवश्यकता होने पर संबंध बनाते वक्त

कितनी खुशामत करनी पडेगी? कैसी दीनता निभानी पडेगी? उसके बदले पहले से ही सज्जन बनकर, उसका उपकार मानकर कृतज्ञतारूप संबंध रखने में क्या समस्या है?

(३) अब यह मानना कि, 'उसने मेरा बिगाडा है' यह भी अज्ञानदशा है, मिथ्या विकल्प है। क्योंकि वास्तविकता से तो, **हमारा अच्छा करनेवाला या बुरा करनेवाला तो मुख्यरूप से हमारे ही शुभ या अशुभ कर्म है। अन्य तो कठपूतली समान निमित्तमात्र है।**

धर्मी आत्मा यदि यह नहीं जानेंगे, तो क्या अधर्मी जानेंगे? शुभाशुभ कर्म पर श्रद्धा कौन रखेगा - आर्य या अनार्य? धर्मी या पापी? अनार्य या पापी को कर्म की श्रद्धा ही कैसे होगी? यह तो आर्य धर्मी ही कर्म की श्रद्धा रखनेवाला होता है; और यदि वह कर्म की श्रद्धा करनेवाला हो, तो स्वयं का कुछ बिगडने पर कर्म को शत्रु के रूप में देखेगा या भाई को?

कहो, आप धर्मी हो ना? तो, आपके किसी रिश्तेदार के साथ आपका वैर-विरोध तो नहीं है ना? कभी आपका कुछ बिगडा होगा, तो आप कर्म को ही जिम्मेदार मानकर भाई आदि को आपका बिगाडनेवाले के रूप में नहीं देखा है ना? उनके साथ अंतर-रुस्वाई तो नहीं कर दी ना? या उसे ही दुश्मन मान लिया? उसके साथ जीवनभर बोलने का व्यवहार बंद कर दिया? तो फिर कर्म की श्रद्धा कैसे रही?

ज्ञात है कि, शास्त्र क्या कहते है?

'केवली निरूपित सूक्ष्म अरूपी, ते जेहने चित्त वसियो रे,
जिनउत्तम पदपद्मनी सेवा, करवामां ते घणुं रसियो रे,
सम्यग्दर्शन पद तुमे प्रणमो।'

'सूक्ष्म' अर्थात् कर्म, और 'अरूपी' अर्थात् आत्मा। वैसे तो 'सूक्ष्म' में अन्य अनेक पदार्थ होते है, जैसेकि कार्मण वर्गणा के उपर की वर्गणाएँ आदि, और 'अरूपी' में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का भी समावेश होता है, किन्तु हमारे बार-बार ध्यान में रखने योग्य यह दो है : कर्म और आत्मा। अत: यहाँ सूक्ष्म और अरूपी के तौर पर कर्म और आत्मा की बात कही है।

जिसके चित्त में यह बात बस गई है, मन में सही तरीके से इस बात का स्थान हो गया हो, वही भव्यात्मा जिनेश्वरदेव के उत्तम चरणकमल की सेवा-भक्ति करने हेतु अत्यंत रसिक होता है।

क्या कहा? भगवान की सेवा-भक्ति का रस धारण करनेवाला कौन होता है? कर्म और आत्मा जिसके मन में सहीसाट बस चूके हो वह।

आप प्रभु की भक्ति का रस धारण करनेवाले हो? भक्ति तो करते ही होंगे, उसमें कोई संदेह नहीं है, किन्तु कर्म और आत्मा को बार-बार नजरों के सन्मुख रखकर नहीं, अपितु कोई मानपान-पैसे आदि के रस से कर रहे होंगे।

'यह कर्म और आत्मा की बात प्रभु ने ही तो बताई है, अत: क्यों ना उन्हीं प्रभु की भक्ति करूँ?' यह सोच नहीं होगी। या 'मेरे कर्म तोडनेवाले और मुझ आत्मा को मोक्ष पहुँचानेवाले यह प्रभु ही है, अत: उनकी अत्यंत सेवा-भक्ति करूँ। परिवार या अन्य की मजदूरी में क्या प्राप्त होगा? इससे तो भवभ्रमण ही बढनेवाला है।' इस प्रकार की भावना मन में आयेगी, तब प्रभुभक्ति का वास्तविक रस प्रगट होगा।

- प्रभु की भक्ति करना अलग बात है और
- शुद्ध भक्ति का भारी रस होना वह अलग बात है।

रस हो, वह प्रसंगोपात्त भक्ति ना भी कर पाये, क्योंकि कर्मवश कोई संयोगो के आधीन बन सकता है, किन्तु भीतर में जिनभक्ति का रस अर्थात् उन पराधीन संयोगो में रहकर भी भीतर में तो प्रभुभक्ति का ही रटण चलता रहता है।

और जब भक्ति में जुडने का सौभाग्य प्राप्त हो, तब ऐसा रस प्रगट होता है कि, प्रभु के अलावा परिवारादि सब तुच्छ लगता है, भक्ति के सामने बडे वैभवादि भी व्यर्थ लग जाते है। तब,

रसपूर्ण भक्ति भावभक्ति बनती है; बाकी रसहीन भक्ति तो द्रव्यभक्ति ही बन जाती है।

रसपूर्ण भक्ति कैसे बनती है? :

यह रुचिपूर्ण भक्तिवाला या भक्ति का रसिक कौन बन सकता है? तो कवि ने

लिखा है कि, सर्वज्ञद्रष्ट 'सूक्ष्म' = कर्म और 'अरूपी' = आत्मा जिसके मन में सही तरीके से स्थापित हो गये हो वही।

इसीलिए यह सोचना है कि, प्रभु की भक्ति करते है, तो चित्त में कर्मतत्त्व बस गया है ना? नजर के सामने कर्मतत्त्व रहता है ना?

यह होता है, तो स्वयं का कुछ भी बिगडने पर उसे विचार होगा कि, 'यह तो मेरे ही अशुभ कर्मों ने बिगाडा है, मेरे भाई ने या रिश्तेदार ने नहीं।'

यदि मन में यह विचार हो गया, तो फिर भाई या रिश्तेदारों के साथ विरोध-अनबनी होगी क्या? या मन में विचार आयेगा कि, 'यह मेरा नुकसान करनेवाले मेरे अशुभ कर्म, पूर्वभव में किसी के साथ वैर-विरोध-अनबन-अमैत्रीभाव के कारण निर्मित हुए थे, अत: उन दोषों का निवारण करने हेतु यहाँ भाई आदि के साथ अनबन-अमैत्री-विरोध ना करूँ। भले ही स्पष्ट रूप से वही लोग मेरे नुकसानकर्ता दिखे, मुझे कुछ गलत कह दिया हो, फिर भी उनके प्रति मन में वैर-विरोध नहीं, अपितु मैत्रीभाव-स्नेहभाव धारण करूँ।'

क्या मन में यह बात होती है? होती, तो कर्म की लात खाते वक्त कर्म की नई परंपरा का निर्माण करनेवाले मलिन भाव मन में कैसे पैदा होते? ऐसे भाव पैदा होते ही झटका लगता।

धर्मात्मा को आपत्ति में अवसर :

धर्मात्मा की यही खूबी है कि, उन्हें परेशानीयों के वक्त पूर्व में किए गलत भावों को मिटाकर उत्तम भाव करने का अवसर प्राप्त होने का अनुभव होता है।

- अनबन से बिगडा, वह मैत्रीभाव से सुधार दूँ,
- द्वेष से बिगडा, वह भावदया से सुधार दूँ,
- ईर्ष्या से दुष्टकर्म निर्मित किये थे, तो अब प्रमोदभाव से सुधार दूँ।

यह विचार करते है।

धर्मात्मा की अवस्था किसमें है?

कुछ बिगडने में स्वयं के ही कर्मों को उत्तरदायी मानकर भाई-रिश्तेदार आदि प्रति हृदय में हल्का सा भी विरोध पैदा करने का मन ना हो। 'भाई ने नहीं

अपितु मेरे कर्म ने ही बिगाडा है।' यह मानकर भाई के साथ नहीं बिगाडते।

(४) तब यह भी नहीं लगता कि, 'यह तो सब स्वार्थी है, अत: उनके साथ अधिक प्रेम नहीं रखना। अन्यथा वह स्वार्थवश मेरा भी नुकसान कर देंगे।'

यह मानना भी मिथ्या है। क्योंकि जगत में कौन स्वार्थी नहीं है? क्या स्वयं स्वार्थप्रिय नहीं है? नहीं है, तो यह क्यों लगता है कि, 'सामनेवाला मेरा नुकसान करके मेरा स्वार्थभंग कर देगा तो?'

अन्य स्वार्थी है और स्वयं नहीं; यह अज्ञानदशा है, मोह है और उस मोह के वश मैत्रीभाव, करुणाभाव गँवाकर द्वेष, अभिमान आदि कषायों में मरता है, जीवन पूर्ण करता है !

मोह का पाश हीनकृत्य करवाता है।

वह राजा नरसिंह की प्रबल पुण्याई को नहीं देखता कि, 'मेरे उसकी हत्या करने के अनेक प्रयत्न के बावजूद वह आबाद बच कर आज मेरा जमाई बन जाने की स्थिति तक पहुँच चूका है ! तो उसका पुण्यबल कितना अधिक होगा !'

नहीं, मोहवश राजा यह कुछ भी नहीं सोच पाता, अत: ऐसी हीन विचारधारा तक पहुँच जाता है कि, 'भले ही मेरी पुत्री विधवा बन जाये, किन्तु इस नरसिंह को तो खत्म करना ही होगा। वह मेरा वारिस कैसे बन सकता है? इसमें तो मेरी ही लघुता साबित होगी।'

कैसी विचारधारा है? उसे यह भान नहीं है कि, 'वह तेरा जमाई बन बैठा उसमें लघुता नहीं हुई, तो फिर तुम्हारा वारिस बन जाये इसमें कैसी लघुता?'

संसार ऐसा ही उल्टा है कि, एक बात में लघुता न लगने दे और दूसरी बात में लघुता का अनुभव करवाये।

शब्द में कृपणता करते वक्त हल्का नहीं लगता ! और वस्त्रादि शेखी में कुछ कमी रह जाये तो हल्का लगता है ! तभी तो वस्त्रादि की मोहकता को बरकरार रखने हेतु भारी खर्च कर दिया जाता है, किन्तु धर्म में खर्च करने की बात हो, तब पीछेहट कर देंगे ! क्योंकि वहाँ कुछ ना देने में लघुता का अनुभव नहीं होता।

राजा मिथ्या विचारधारा के कारण नरसिंह को अपना वारिस बनते देख, उसमें हल्काई-लघुता का अनुभव कर रहा था। अब तो वह खुद का ही दामाद बन चूका हे, फिर भी उसकी हत्या का विचार कर रहा है और वह भी 'तुरंत दान और महापुण्य' की तरह करना चाहता है।

'अभी ही वह विजय प्राप्त करके और जमाई बनकर लौटा है, तो अब वह यहाँ अपना वर्चस्व जमाने लग जायेगा, तो उसको अपने मार्ग से हटाना मुश्किल होता जायेगा।' राजा यह सोच रहा है। उसका लक्ष्य मात्र नरसिंह का संहार ही है।

जीव को इस उत्तम भव में कुछ भी उत्तम करने की आकांक्षा भी है क्या? या गलत करने की ही सोच है?

गलत की सोच कैसी? :

जीवन में यह जाँच करते रहना जरूरी है कि, मन का लक्ष्य कहाँ लगा रहता है? ज्ञात होगा कि, शायद आत्महित की बातों पर भाग्य से कभी कबार ही मन लगेगा। जबकि स्वात्मा को अहितकारी अनेक दुन्यवी छोटी-बडी बातों पर मन लग जाता है। जैसे कि,

- मच्छर को हटाने के बावजूद दो-तीन बार उसका दंस लग गया, तो अब वह दंस ही ना दे पाये, इसी बात पर मन लग जाता है।
- भोजन हेतु देरी हो गई और भोजन ठंडा हो गया, तो अब कुछ गरम खाने की इच्छा होने लगती है।
- दुकान पर ग्राहकी कम होने पर, उसे बढाने हेतु विचारधारा चलती रहती है।

मन लग जाने के बाद क्या-क्या किया जाता है, वह तो आप जानते ही हो ना?

आज के अनेक अविवाहित युवान-युवतीओं को परस्पर मिलने की इच्छा होती रहती है। और कहाँ मिलना, वह स्थान भी अजीबोगरीब रहता है।

मंदिर में भी रूपदर्शन-मिलन की दुर्बुद्धि :

हम एक नगर में थे। वहाँ संध्याकाल में अनेक लोग मंदिर में दर्शन करने हेतु आते।



एक व्यक्ति को मैंने पूछा : 'यहाँ शाम के वक्त लोग बडी तादाद में आते है। लोगों की धर्मभावना उत्तम है।'

उस व्यक्ति ने कहा : 'गुरुदेव ! उसमें युवान लडके-लडकीयाँ बडी संख्या में क्यों आते है? आप जानते है?'

'क्यों भला, प्रभु के मंदिर में तो धर्मभावना से ही आयेंगे ना?'

'नहीं, नहीं गुरुदेव ! यह तो अविवाहितों का-कुँवारो का यहाँ परस्पर मिलने का संकेत है, तभी इस मंदिर में आते है। लडकीयाँ बाहर अन्य कहाँ जा पायेगी? और मंदिर आने हेतु कोई रोकटोक ही नहीं, अत: यह मंदिर ही उनका मिलन स्थान बन गया है।'

मैंने कहा : 'यह तो जुल्म है। मंदिर जैसे पवित्र स्थान पर इस हेतु आना?'

वह बोला : 'गुरुदेव ! सिर्फ अविवाहित युवाओं के लिए ये बात मत समझना। किन्तु विवाहित भी शाम के वक्त यहाँ मंदिर के बाहर बैठे रहते है और उद्‌भट वेश पहनकर आनेवाली स्त्रीयों को देखते रहते है।'

हाय ! यह कैसा युग आ पडा है? विकास का या विनाश का? जब ऐसा भयावह वर्तन हो, तब वीतराग के दर्शन में चित्त भी कैसे लगेगा? यदि हृदय में वीतराग दर्शन की हल्की सी भी असर हुई, तो भी मंदिर में या बाहर यह गोरखधंधे की वृत्ति के साथ वह चलते रहने पर, तो उसकी असर भी कैसे टीक पायेगी?

पूरा जीवन इसी हीनवृत्ति में बीत जाये, तब उसके गंदे हजारों कुसंस्कारों को ले कर जीव किस गति में जायेगा? और वहाँ भी कैसे भयावह पापों का आचरण करेगा? किस प्रकार पापिष्ठ बनेगा? और उसमें भी क्या मानवभव पुन: जल्दी मिलेगा? या तिर्यंच-नरक की ही मुलाकात होती रहेगी?

पुरुषों की यह स्थिति करनेवाला कौन? वही उद्‌भट विचित्र वेशधारी और अपने अंगोपांग का प्रदर्शन करनेवाली स्त्रीयाँ ही। उसके निमित्त से ही पुरुष भटक जाता है ना? फिर उत्कट कामवासना में नरकगति में जाने का जोग तैयार हो ही जायेगा, उसमें आश्चर्य क्या? यह जोग करवानेवाली नारी को 'जोगमाया' कहते है। तो, शास्त्र क्या गलत कहता है कि, 'नारी नरक का दीपक?'

उत्तम गुणवान नारी नरक का दीपक क्यों? :

प्रश्न : उत्तम स्त्रीयाँ भी तो होती है ना?

उत्तर : वह उत्तम गुणवान का अर्थ उसका शरीर गुणवान या उसकी आत्मा गुणवान? आत्मा ही गुणवान है; किन्तु उसका शरीर पुरुषों के लिए क्या है? उसका दर्शन तो बाद की बात है, किन्तु वह शरीर यदि मन में भी बस गया ना, तब भी जीव अपना भान भूल जाता है।

प्रश्न : शरीर को विष्टा की खान समझे तो?

उत्तर : विष्टा की खान समझनेवाले की नजर क्या किसी भी अयोग्य स्थान पर जायेगी? यदि जा रही है, तो वह क्या देख रहा है? विष्टा की खान या उपर का मजेदार अस्तर? गंदगी का स्थान देखे, तो क्या उस पर उसकी नजर स्थिर हो सकती है? हृदय में ठंडक का अनुभव होगा? क्या बात करते हो?

विष्टा की खान मानकर भी स्त्रीशरीर के अंग-प्रत्यंग पर मन को नहीं ले जाना है। मन में भी उसे नहीं डाल सकते। अन्यथा मन हीन विचार में प्रवृत्त होगा ही। मन पर लेने का भी निषेध है, तो फिर देखने की तो बात ही कहाँ?

सिंहगुफावासी मुनि क्या नहीं जानते थे कि स्त्रीशरीर यानि विष्टा की खान है? फिर भले ही रूपरूप का अंबार क्यों न हो। यदि जानते थे, तो वेश्या के गृह क्यों जा पडे? कहो, वेश्या के शरीर के अंग-प्रत्यंग देखकर पतित हो गये।

स्त्रीशरीर का दर्शन भी हल्का, बडे मुनि को भी पतित कर दिया :

प्रश्न : तो क्या स्त्री को पुरुष शरीर का दर्शन हल्का नहीं? हल्का है, तो 'नर नरक का दीपक' क्यों नहीं कहा है?

उत्तर : दोनों में अंतर है। स्त्री के अंगअंग में विकार है, पुरुष के अंगअंग में नहीं। स्त्री के केश देखकर भी पुरुष को मोह हो जायेगा, किन्तु पुरुष के केश देखकर स्त्री को यह नहीं होगा कि, 'कितने सुंदर केश है !'

अरे ! स्त्री के पैरों का तलवा देखकर भी पुरुष मोहित हो पडेगा, किन्तु पुरुष के पैरों का तलवा देखकर स्त्री को मोह नहीं होगा।

इस अंतर का कारण भी स्पष्ट है। स्त्री भोग्य है, पुरुष नहीं। अत: स्त्री का संपूर्ण शरीर, शरीर का अंग-प्रत्यंग; उसका दर्शन ही हीन है। भव में भटकाता है, नरक में पहुँचाता है।

समझदार स्त्री की समझ :

तो फिर उद्‌भट वेश आदि से चाहकर वह दर्शन करवानेवाली स्त्रीयाँ कितनी भयंकर? वह स्वयं भी कैसे भयावह पापों का बंधन करती है?

समझदार है, तो उसे यह समझना होगा कि, 'आज की दुनिया में ज्यादातर पुरुष कामांध है। उसे स्त्रीदर्शन की लालायितता है। दर्शन का निमित्त मिलते ही वह पागल हो जायेगा। अत: उसे पागल होने हेतु और नरक बंधन का निमित्त ना दूँ। अन्यथा परलोक में मेरा भी अति बुरा हाल होगा।'

अति बुरा हाल क्यों?

इसीलिए, क्योंकि शराबी से अधिक पापी शराब बेचनेवाला है, वेश्या से अधिक पापी वेश्या प्रदान करनेवाला है; वैसे ही परस्त्री देखनेवालों से अधिक परस्त्री देखने का निमित्त प्रदान करनेवाली उद्‌भट वेशधारी स्त्री पापी है।

इस हिसाब से आज के सिनेमावाले और सिनेमा को विज्ञापित करनेवाले कैसे पापी बनेंगे? कैसे भयावह पापों का बंधन करेंगे?

मन की वृत्ति कहाँ? उसकी यह बात है। मानव के मन की वृत्ति स्त्रीदर्शन पर लगाने के बदले यदि परमात्मा के दर्शन पर लग जाये तो? सफलता मिल जायेगी ना? न्याल हो जाओगे ना?

प्रभुदर्शन पर मन लगने की परीक्षा :

स्त्रीदर्शन की वृत्ति रखनेवाले को जैसे स्त्री के जाने के बाद भी मन में उसका ही दर्शन होता रहता है, वह भूली नहीं जाती; वैसे ही, परमात्मा के दर्शन की चाहना रखनेवाले को मंदिर से बाहर निकलने के बाद भी मन में वही दर्शन याद आता रहता है, भगवान को भूलाया नहीं जाता।

यदि मन में यही विचारधारा चलती हो, भगवान ही दिखते रहे, तो भगवान से अधिक दुनिया का कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा, कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं लगेगा, सब झूठी माया लगेगी, हल्की माया लगेगी। बस,

इसी का नाम वैराग्य है कि, भगवान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माया ना लगे, माया हल्की लगे।

मोक्ष का उपाय :

यह वैराग्य प्राप्त हो गया, तो समझो की बेडा पार हो गया, अनेक पापबंध क्षीण हो गये; फिर त्याग-सर्वत्याग आने में देर नहीं लगेगी। यहाँ तक की, मोक्षप्राप्ति में भी अधिक देर नहीं लगेगी। मूल कारण, मूल उपाय यही है कि स्त्रीदर्शन से भी अधिक परमात्मा के दर्शन की प्रीत जगाओ।

उस राजा को यही विचार है कि, 'नरसिंह को मरवा दूँ।'

किन्तु वह यह नहीं सोच पाता कि, अब ऐसा करने पर उसकी ही पुत्री विधवा बन जायेगी ! उसके जीवनभर के सुख खत्म हो जायेंगे ! 'नहीं, तू भले विधवा हो, तू भले ही जीवनभर दुःखी हो, मैं तो इसे मारकर रहूँगा।' यही धून है। उसमें अब जमाई के कारण पुत्री के प्रति भी हृदय में क्रूरता का जन्म हो गया। इसी का नाम है संसार !

संसार ही ऐसा है कि, जो ऐसे स्वार्थ की ममता जागृत करता है कि अवसर पर निर्दोष त्राहित को क्या और अपने सगे को क्या, भयंकर दुःख प्रदान करने की बुद्धि जगाता है। रौद्रध्यान, कृष्णलेश्या और भयंकर कषाययुक्त दुष्कृत्य की बुद्धि करवाता है।

आपको यह संसार पसंद है ना? उसमें रहने का कोई अफसोस, दुःख या रुदन होता भी है कि,

'हाय ! ऐसे भयावह संसार से मुक्त करवाके सुखद संयममार्ग प्रदान करनेवाला जिनशासन मिला है, फिर भी मैं अब तक इसी संसार का पोषण कर रहा हूँ?'

यदि संसारवास का आंतरिक रुदन नहीं है, तो जिनशासन और संयममार्ग की कदर भी कैसे होगी? उसकी किंमत भी कैसे समझ आयेगी? निखिल विश्व में

जिनशासन और संयममार्ग की यह अमाप किंमत है कि, वह भयावह संसारवास की यथार्थ पहचान करवाते है और वहाँ से मुक्त भी करवाते है।

यह किंमत समझे, उसे मानवभव में संसारवास का पोषण करने के कारण आंतरिक रुदन होता रहता है। संसार का त्याग ना हो, तब तक अपने मन में ऐसे स्वार्थ धारण नहीं करता कि,
(१) जो अन्य निर्दोष को या दयापात्र को दुःखप्रदायक हो,
(२) जो रौद्रध्यान, कृष्णलेश्या और भयंकर कषाय करवानेवाला हो।

संसार को असार, भयावह समझनेवाला उन रौद्रध्यान, कलुषित कषाय और जीवहिंसा पर अंकुश रखनेवाला ही होता है, अमैत्री–क्रूरता–ईर्ष्या–परतप्ति से दूर रहने हेतु ही प्रयत्नशील रहता है।

भयावह मलिन भाव करवानेवाला संसार भी भयावह है।

'किसकी खातिर यह भयावह कलुषितता को हृदय में धारण करूँ? कुटिल संसार की खातिर? मूल में ही संसार रखा है, यही मेरा बडा अपराध है। अब उस संसार को पुनः सारभूत मानूँ? यह भयानक मलिनभाव क्यों करूँ?' मन में यह भावधारा बढती है।

जीवन की जाँच करना कि, हृदय में कैसे–कैसे मलिनभाव जागृत होते है? जिनशासन मिलने के बावजूद यह मलिनभाव करने है, तो लगता भी है कि पुनः जिनशासन प्राप्त होगा?

निःसंकोच किये गये मलिन भाव से पुनः उन्हीं भयावह–हीन भावों के योग्य दुर्गति के भव ही मिलते है, जिसमें जिनशासन की प्राप्ति ही नहीं होगी।

राजा को यह विचार नहीं, वह तो निर्दोष नरसिंह की हत्या करने हेतु तत्पर है, फिर भले ही उसमें अपनी ही पुत्री विधवा हो जाये। इस बात की उसे कोई परवाह ही नहीं है, उसे परलोक के हीन भव का क्या भय होगा?



९. राजकुमार की हत्या

राजा का पैंतरा :

राजा ने नरसिंह के विजय प्राप्त करके आने के दिन ही उसे बुलाकर कहा : 'हमारे कुल में रिवाज है कि, विवाह करके सर्वप्रथम रात्रि में गाँव के बाहर मंदिर में देवी की पूजा अकेले करनी पडती है। अत: तू यह पूजापा ले कर आज रात्री को ही पूजा कर आना।'

नरसिंह ने आदेश स्वीकार लिया : 'जरुर ! जैसी आपकी आज्ञा।'

यह राजा का षडयंत्र है। उसने नरसिंह के जाने के बाद शूली देनेवाले चांडालों को अंगत रूप से बुलाकर कहा : 'आज एक राजद्रोही को खत्म करना है।'

चांडाल कहने लगे : 'आप आज्ञा दे हजूर ! अभी ही खत्म कर देते है।'

राजा कहता है : 'वह राजद्रोही आज रात्री में अकेला ही नगर के बाहर देवी मंदिर के मार्ग से देवीपूजा का सामान ले कर जानेवाला है, यह समाचार प्राप्त हुए है। तो, तुम सब को वह अकेला दिखे, तब अन्य कोई भी विचार किए बिना, तुरंत ही अँधेरे में उसके प्राण हर लेना और वहाँ से तुरंत निकल जाना।'

'यह अवसर है, जिससे राजद्रोही का कंटक भी निकल जायेगा और किसीको ज्ञात भी नहीं होगा कि, किसने उसे मार दिया है। और ध्यान रहे यह बात कहीं प्रकट ना हो जाये, अन्यथा कार्य संपन्न नहीं होगा।'

चांडाल भी समझे कि, 'यह सही है। राजद्रोही को तो मार डालना ही चाहिए और जब राजा स्वयं हुकम दे रहे है, तो हम तो हुकम को माननेवाले सेवक है। अत: अन्य कोई विचार करना भी नहीं चाहिए।' राजा को कहते है कि, 'जो आज्ञा महाराज ! आप चिंता ना करे, आपके आदेश का पालन होगा।'

रात्रि को नगर के बाहर मंदिर वाले मार्ग की आसपास झाडीयों में वह चार चंडाल पूर्व से ही धारवाले तीक्ष्ण हथियार ले कर छूप गये और राह देख रहे है कि, 'जैसे ही वह राजद्रोही यहाँ से गुजरे, तुरंत ही हम चारों उस पर प्रहार कर देंगे और तुरंत कार्य निपटाकर निकल जायेंगे।'

नरसिंह बच पायेगा? :

बताओ, अब यह षडयंत्र तैयार हो चूका है और नरसिंह भी रात्रि के वक्त उस मार्ग से अकेले ही देवीपूजा करने हेतु जाने का स्वीकार भी कर चूका है, तो क्या नरसिंह इस षडयंत्र से बच पायेगा?

उसे तो इस षडयंत्र की भनक तक नहीं लगनेवाली थी, क्योंकि यह तो सिर्फ राजा और चांडालों ही जाने, ऐसी राजा ने योजना बनायी थी, तो अब नरसिंह इसमें से कैसे बच पायेगा?

राजा और चांडालों के अलावा किसी को ज्ञात नहीं था और नरसिंह भी सहजता से देवीपूजा करने हेतु रात्रि के समय जानेवाला था, तो वह कैसे बच पायेगा?

किन्तु वह बच जायेगा, तो क्या मानव के प्रयत्न से बचेगा? या कोई अतीन्द्रिय सत्ता के प्रभाव से बचेगा?

आज मोटर-विमान अकस्मात में, धरतीकंप में, अतिवृष्टि-अनावृष्टि में कोई ना कोई मानव चमत्कारिक रूप से बच जाते है, तो वह किसके प्रभाव से? मानव के हाथ की बात होती ना, तो मानव बचने हेतु कोई कसर नहीं छोडेगा। किन्तु क्या करेगा? जितना बच निकलने का प्रयत्न करता है, उतना ही उसमें फँसता जाता है।

कारण? कोई अतीन्द्रिय सत्ता कार्य कर रही है, जिसके आगे उसकी एक नहीं चलती और उसी सत्ता के सामने उसे डरानेवाली अन्य सत्ता भी कार्य कर रही है, जिसकी उसे कोई परवाह नहीं।

कुछ समझे?

कर्मसत्ता अतीन्द्रिय है, उसके सामने मात्र धर्मसत्ता का ही वर्चस्व रहता है।

किन्तु अज्ञान–मूढ जीव को कर्म की लातें खाना गवारा है; किन्तु रक्षा करनेवाले धर्म का शरण नहीं चाहिए ! कैसी कैसी मूढता?

अनंतानंत काल से जीव की यही मूर्खता चली आ रही है कि,

- कर्म करने हेतु मध्यरात्रि को भी तैयार, परंतु धर्म करने हेतु दिन में भी तैयार नहीं ! कैसी मूर्खता !
- थका हुआ होने के बावजूद कर्म करेगा, किन्तु अच्छा–भला होगा तब भी धर्म तो नहीं करेगा ! कैसी मूढता !
- कर्म पैसे खर्च कर और काया को तोडकर भी करेगा, किन्तु धर्म नि:शूल्क होते हुए भी, आराम से होते हुए भी नहीं करेगा ! यह मूर्खता नहीं तो क्या है?
- कर्म न करने पर घर–दुकान नहीं चल सकते, यह लगता है, किन्तु धर्म न करने पर सद्गति प्राप्त नहीं होती, कर्म की मार कम नहीं होती, सुख नहीं मिलता, यह नहीं लगता !

आपत्ति में धर्म बचाव करता है, अकल्पनीय सुख धर्म देता है।

अनेक कर्म करनेवाले विश्व में अनेक है, किन्तु अत्यंत धन तो अति अल्प को ही प्राप्त होता है। कारण क्या? कहना ही पडेगा कि, पूर्वजन्म में उन अल्प लोगों ने उत्तम धर्म किया था, अत: उसके मीठे फल यहाँ अल्प लोग ही भुगत रहे है। इसके अलावा अन्य कोई जवाब ही नहीं है।

आज के विज्ञानयुग के पास इसका जवाब 'अकस्मात्', 'चान्स' यही है।

किन्तु यह भी कोई जवाब है? 'अकस्मात्' अर्थात् 'न कस्मात्' अर्थात् किसी कारण से नहीं। बस, यूँ ही हो गया। यह कोई जवाब है क्या? कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, यह सनातन नियम है। अन्यथा कार्य–कारण की व्यवस्था ही नहीं रहेगी।

दूध से दहीं बनता है, पानी में से नहीं। मिट्टी से ही घडा बनता है, धूल से नहीं। यह क्या सूचित करता है? नियत कारण से ही कार्य बनता है, उसके बिना नहीं।

और 'चान्स' यानि सद्भाग्य कहो, तो यहाँ चार-चार बार राजा के द्वारा नरसिंह की हत्या के प्रयत्न होने के बावजूद, वह बच निकलता है, तो इसके पीछे प्रभु के दर्शन से निर्मित पुण्य कार्य कर रहा है।

बचाव में पुण्य कारण है, पुण्य द्वारा प्रभुदर्शन का धर्म कारण है।

कैसा श्रेष्ठ कारण !

इतना श्रेष्ठ कारण हो, तब राजा भी क्या कर पायेगा? फिर भी देखो, पुन: राजा ने नरसिंह को मारने का षडयंत्र रच दिया है। एक तरफ नरसिंह को रात्रि के दौरान देवीपूजा हेतु भेज रहा है, तो दूसरी तरफ चांडालों को 'देवीमंदिर के मार्ग में रात्रि के समय जो पूजा की थाली लेकर आये, उसे तुरंत खत्म कर देना' यह आज्ञा दी है। तो क्या इस बार तो नरसिंह खत्म होगा ना?

अतीन्द्रिय अद्रश्य कारण नहीं मानते, वह तो यही कहेंगे कि, 'हाँ, इसमें पूछना क्या?' नहीं, अभी देर है। अद्रश्य बडा कारण कार्य कर रहा है, अत: नरसिंह भी ऐसे ही कैसे मर जायेगा?

नरसिंह कैसे बचता है? :

रात्रि होने पर नरसिंह अपने स्थान से पूजा की थाली ले कर निकलता है, मार्ग में चलता है उसी वक्त आगे राजकुमार अपने आवास के झरोखे में खडा रहकर नरसिंह को जाते हुए देखता है, तब तुरंत उसे आवाज लगाकर रोकता है और नीचे आ कर पूछता है :

'नरसिंहशा ! इस अँधेरी रात में कहाँ चल दिये? यह थाली में क्या है?'

नरसिंहने कहा : 'देवीपूजा करने हेतु जा रहा हूँ।'

'इस समय?'

'हाँ, पिताजीने कहा था कि, हमारे यहाँ प्रथम रात्रि को देवीपूजा करने का रिवाज है, अत: पूजापा चढा देना।'

राजकुमार कहता है : 'अच्छा, देवी को पूजापा ही धर देना है ना? लाओ, यह मैं ही कर देता हूँ, आप निश्चिंत हो कर लौट जाओ और आराम फरमाओ।'

राजकुमार को नरसिंह के गुण, उसका स्नेह और हाल ही में प्राप्त किये विजय और अत्यंत प्यारी बहन का पति... इन तमाम कारणों से नरसिंह पर इतना अधिक स्नेह और आकर्षण है कि, नरसिंह को इस वक्त वहाँ जाते हुए देख नहीं पाता। अत: उसे रोककर कहता है कि,

'देवी को पूजापा देना है ना? यह तो राजकुल का कोई भी मानव दे सकता है। अत: मुझे दे दो, आपके बदले यह थाल मैं रख दूँगा और आपके दीर्घ आयुष्य, सुख-समृद्धि की कामना भी करूँगा।'

नरसिंह ने कहा : 'नहीं, पिताजीने मुझे जाने का आदेश दिया है, अत: मुझे ही जाना चाहिए।'

किन्तु राजकुमार के आग्रह से वश हो कर उसे झुकना पडा। राजकुमार को पूजापा का थाल दे दिया, और स्वयं अपने स्थान पर जा पहुँचा। राजकुमार थाल ले कर नगर के बाहर निकल पडा।

राजकुमार मौत के मुख में :

कहाँ जा रहा है? मौत के मुख में। अब, उसका बचाव होगा की नहीं?

यहाँ यही कहना पडेगा कि, पूर्वभव का धर्म, धर्म से उत्पन्न पुण्य का बल हो, तभी बचाव मिलेगा, अन्यथा नहीं। यहाँ के बचाव हेतु, इस भव की चतुराई या पुरुषार्थ का कोई उपयोग नहीं होगा, सिवाय की यहाँ कोई उत्कृष्ट भाव का धर्म किया जाये। क्योंकि शास्त्र कहते है :

'अति उग्र पुण्य (धर्म) या पाप यहीं फल देते है।' उसके बिना तो पूर्व का पुण्य ही बचाता है।

राजकुमार का पुण्य होगा, तो बच सकता है। अभी तो वह शुभ निष्ठा से निकल चूका है। उसमें उसे राजा के षडयंत्र की भनक तक नहीं लगती। कैसे होगी? देखो, स्वयं का पिता भी षडयंत्र की जानकारी नहीं देता कि, 'हत्यारे रखे गये है।'

तो वहाँ चल देना उचित है या नहीं?

हाँ, प्रपंच की जानकारी होती, तो अलग बात होती। तब तो, उसे नरसिंह

पर भी कोई आफत ना आये, वह विचार भी करना पडता, वह भी एक कर्तव्य है। किन्तु प्रपंच की कोई जानकारी ही ना होती, तो वह जो विवेक कर रहा है, वह उचित ही कर रहा है।

मानव का दायित्व कर्तव्य को निभाना है।

नरसिंह पर अमाप बहुमान के कारण राजकुमार यह कर्तव्य, यह विवेक समझता है कि, 'वर्तमान संयोगो में मुझे नरसिंह का कार्य सम्हालकर उसे आराम प्रदान करना चाहिए।'

किन्तु उस निर्जन समय पर अकेले जाने में कोई भय नहीं? भले ही हो, किन्तु वह तो जैसा स्वयं को, वैसा ही नरसिंह को। अत: कर्तव्य से पीछे क्यों हटता? विवेक कैसे भूल जाता?

कर्तव्यपालन के मार्ग में भय की बाते व्यर्थ है :

कर्तव्य निभाने का अवसर हो, तब व्यर्थ भय की बातें नहीं की जा सकती। अन्यथा कोई भी कर्तव्य या उत्तम कार्य ही नहीं हो सकते। क्योंकि सर्व स्थानों पर भय की व्यर्थ बातें ही बनाई जा सकती है।

और खासियत तो यह भी है कि, संसार के अनेकानेक कार्य करते वक्त भय की बातें नहीं होती। तो क्या धर्म ही अनावश्यक है? धर्म किसी काम का नहीं? उसी में भय की बातें लगा देनी है?

पुत्री का विवाह तुरंत करवाना हो, तो तब भय नहीं लगता कि, 'वह विधवा हो गई तो?' किन्तु दीक्षा हेतु तुरंत हाँ नहीं कहेंगे, तब भय की बात आ जाती है कि, 'यदि भंग कर लिया तो?'

तो क्या जीवन संसार कार्यों से, पाप कर्तव्यों से ही भरने हेतु मिला है?

नहीं, **मानवजीवन उत्तम कार्यों की पूर्ति से ही भरचक भरने योग्य है। वहाँ भय की बातें तो बेकार ही है।**

भेंस के भव में यह सुकृतकरण कैसे मिलेगा? कीडे-मकोडे के भव में तो इसका अंशमात्र भी नहीं मिलेगा। देव अवतार में भी वह भरपूर कर्तव्य कहाँ है? यह तो मानव अवतार में ही सुलभ है।

भरपूर सत्कर्तव्य और भरपूर सुकृत मानवभव में ही सुलभ है, उसी से मानवभव देदीप्यमान और सफल बनता है।

मनुष्यभव देदीप्यमान बनाना है?

- अगर ना है और मात्र व्यापार-धन-खानपान-मोजमजा और यश-मान आदि ही पसंद है तो, वह मूढ जीवन बनेगा।
- देदीप्यमान बनाना हो, तो कर्तव्य-सुकृत भरपूर करना सिखो। रामचंद्रजी-लक्ष्मणजी-सीता आदि उत्तम पूर्वपुरुषों का जीवन देखो।

राजकुमार पर जादों का प्रहार :

हमारी बात यह थी कि, नरसिंह को राजा ने रात्रि के दौरान देवीमंदिर पर पूजापा चढाने को कहा था और नगर के बाहर वन में नरसिंह को हत्यारे एक ही झटके में खत्म कर दे, यह प्रपंच तैयार कर दिया था। किन्तु वहीं राजकुमार, अपने प्रगाढ मित्र और अब बन चूके बहनोई को वापिस भेजकर उसका पूजापा स्वयं ले कर देवीमंदिर की तरफ चल पडा।

जैसे ही वह नगर के बाहर वन में पहुँचा, तुरंत ही झाडीयों में छीपे चार जाद हथियार ले कर निकल पडे। अँधकार के कारण राजकुमार का मुख भी पहचान नहीं पाये। राजा के आदेशानुसार अन्य कोई भी विचार किये बिना तुरंत राजकुमार पर चारों जादों ने हमला कर दिया। राजकुमार की मृत्यु हुई और जाद तुरंत वहाँ से भाग निकले।

राजा को शायद उस रात्रि में चेन की नींद आई होगी, उसका विचार यही होगा कि, 'चलो ! अब तो मेरा वारिस होनेवाला यह नरसिंह बनिये का पुत्र आज तो मर ही जायेगा।' किन्तु,

योद्धा जैसे कर्म के सामने मृतप्राय: मानव की क्या औकात?

राजा की दुष्ट मनसा कैसी और कर्म-कुदरत भी क्या कार्य करते है ! न जाने कुदरत माता भी कैसी दयालु थी कि, मूर्ख राजा के द्वारा चार-चार बार दुष्ट प्रयत्न होने के बावजूद राजा पर दया की, उसे कोई दंड नहीं दिया, किन्तु अब कर्म-कुदरत ने पाँचमी बार राजा के दुष्टप्रयत्न में उसके ही प्राणप्रिय और वारिस बनाने हेतु जिसका नाम तय किया था, उसी पुत्र को ही उठा लिया !

वह भी इस प्रकार की, राजा यह जाने तब उसे यही लगेगा कि, 'अरे ! यह तो मैंने ही मेरे पुत्र को मरवा दिया !'

वह भी किसी हत्यारे को दोष नहीं दे सकता कि, 'क्यों तुम लोगों ने इसे मार दिया?' क्योंकि उसने स्वयं ही आदेश दिया था कि, 'कुछ भी देखे-सोचे बिना देवीमंदिर के मार्ग से जो रात्रि को निकले, उसे खत्म कर देना।'

उसी प्रकार नरसिंह को भी दोष नहीं दे सकता कि, 'तुमने क्यों राजकुमार को मंदिर जाने दिया?' क्योंकि उसमें उसकी योजना प्रकट हो जायेगी कि, 'नरसिंह को मारने हेतु स्वयं ने ही प्रपंच रचा था।'

इस प्रकार कुदरत ने ही इस प्रकार सहज बना दिया कि, राजा को यही लगे कि, 'मेरे पुत्र को मैंने ही मरवा दिया।'

राजा के इस पाँचवी बार के प्रयत्न में कुदरत ने उसे ऐसी जालिम शिक्षा प्रदान कर दी की, अब राजा यह नहीं सोच सकता कि, 'मेरा वारिस नरसिंह क्यों हो? गादी पर तो मेरा ही पुत्र आयेगा।' पुत्र की मृत्यु के बाद यह विचार रहेगा?

कुदरत का इन्साफ भी कैसा सटिक है !

कुदरत का कानून है : 'जीओ और जीने दो' उसके बदले 'जीओ और मारो' का विपरीत कार्य करनेवाले कानूनभंजक को कुदरत कैसे सहेगी? पूछो,

प्रश्न : तो फिर कुदरत ने बिचारे निर्दोष राजपुत्र को ही उठा लिया, उसमें इन्साफ कैसे हुआ? पिता के पाप से पुत्र को सजा क्यों? कुदरत का यह गलत न्याय हुआ ना?

उत्तर : इसका उत्तर समझने हेतु, यह जानो की कुदरत क्या चीज है?

कुदरत अर्थात् पाँच कारणों का समन्वय है।

(१) कर्म कारण :

सबूर ! कुदरत यानि कोई इश्वर या व्यक्ति को मत समझना, जो पूरे विश्व का संचालन करती हो। क्योंकि उस इश्वर-व्यक्ति को मानने से यह आपत्ति, यह सवाल खडा होगा कि, तो फिर इश्वर ने उस निर्दोष राजकुमार को क्यों ऐसी भयावह मौत दी?

शायद इसके जवाब में कहो कि,

प्रश्न : राजकुमार के भी अपने ही पूर्वभव के कर्म ऐसे थे, अत: इश्वर ने मात्र न्याय प्रदान किया, यह कह सकते है ना?

उत्तर : तब मुख्य कारण कर्म ही बना ना? कर्म की यह ताकत, यह स्वभाव मानना ही पडेगा ना कि, वह अपना फल देता ही है? तो फिर इश्वर की क्या ताकत?

प्रश्न : कर्म तो जड है, उसे कार्यकर बनाने हेतु चेतन इश्वर की आवश्यकता तो होगी ना?

उत्तर : तब भी प्रश्न यही होगा कि, कर्म तो पूर्वभव से चल रहे थे। तो इश्वर ने राजपुत्र को उस कर्म के हिसाब से जल्दी खत्म क्यों नहीं किया? इतनी देरी से क्यों मरवाया?

और सर्वशक्तिमान इश्वर ने जीव को ऐसे कर्मबंध हो, यह होने ही क्यों दिया? क्यों कर्मबंध को रोका नहीं? अत: जीव के दुष्कृत्य से इश्वर की मध्यस्थी के बिना ही कर्म उत्पन्न हो गये, उसी तरह कर्म भी इश्वर की मध्यस्थी के बिना ही अपना विपाक दिखा सकता है।

अन्यथा जहाँ इश्वर को भी कर्माधीन रहना पड रहा हो, वहाँ इश्वर का स्वातंत्र्य भी क्या रहा? और इश्वर की जरुरत भी क्या रहेगी? कर्म जिस प्रकार के स्वभाव के और जैसी कालस्थिति पर विपाक देनेवाले, उसी प्रकार और उसी कालस्थिति पर अपना फल प्रदान करते है। तभी इश्वर भी उस कालस्थिति गुजरे बिना उसका फल नहीं दे सकते, तो फिर इश्वर का सामर्थ्य भी क्या और इश्वर की आवश्यकता भी क्या?

पेट में गर्भ नौ महिते बीतने पर ही निष्पन्न होता है और गर्भ के जीव के जैसे कर्म हो, वैसे ही रूप-रंग-आकृति-बल आदि का तैयार होता है। तब इश्वर का सर्जन क्या? तात्पर्य, कुदरत अर्थात् इश्वर नहीं।

प्रश्न : तो क्या कुदरत यानि कर्म है?

उत्तर : मात्र कर्म नहीं, अपितु कर्म-नियति-काल-स्वभाव और पुरुषार्थ, इन पाँच कारणों का समन्वय है कुदरत। और वही है कार्य में कारण। पूछो कि,

(२) नियति–भवितव्यता किस प्रकार कारण? :

प्रश्न : कर्म को कारण मानने के बाद अन्य नियति आदि को कारण मानने की जरुरत रहती है?

उत्तर : हाँ, देखो प्रस्तुत में ही राजकुमार को हत्यारों के प्रहार होने से भयावह वेदना हुई। वह कुमार के भी कोई पूर्वभव के अशाता वेदनीय कर्म से हुई।

किन्तु वह अन्य किसीके नहीं, बल्कि पिता द्वारा ही भेजे गये हत्यारों के द्वारा क्यों हुआ?

अशाता वेदनीय कर्म में ऐसा तो कुछ नहीं लिखा गया था, यह निर्माण नहीं था कि, पिता के हत्यारे ही अशाता प्रदान करे। अशाता कर्म का स्वभाव तो इतना ही था कि, उदय में आ कर अशाता प्रदान करे, वेदना प्रदान करे।

तो फिर इस प्रकार सगे बाप की ही योजना के कारण वेदना प्राप्त हुई, वह क्यों? और पिता भी उसके वैरी नहीं थे, जिसके कारण अपने ही कुमार को मारने के लक्ष्य से यह प्रपंच रचा। नरसिंह को मारने के प्रपंच में कुमार कैसे फँस गया?

इसके उत्तर में यही कहना पडेगा कि,

नियति–भवितव्यता ही ऐसी थी कि, पिता नरसिंह की हत्या का षडयंत्र रचे और उसमें अपना ही पुत्र फँस जाये !

कर्म फल प्रदान करता है, भवितव्यता उसके लिए नियत प्रकार के संयोगों का निर्माण करती है।

जैसे कि, यहाँ राजकुमार को अशाता कर्म ने भयंकर वेदना का फल प्रदान किया, इतना ही कर्म का कार्य। किन्तु उस कार्य हेतु, पिता का नरसिंह के लिए हत्यारे भेजना, नरसिंह का बाहर निकलना, राजकुमार का उसे देखना, उसे देखकर रोकना और स्वयं पूजापा ग्रहण करके चलना; आदि नियत प्रकार के संयोग करना वह भवितव्यता का कार्य है।

पिता को उत्तम पुत्र प्राप्ति का पुण्य हो, अत: पुत्र मिल जाता है। किन्तु उसमें कोई जीव ही वहाँ पुत्र के रूप में आता है, उसका कारण भवितव्यता।

इसी प्रकार पुत्र को भी उत्तम माता-पिता की प्राप्ति पुण्य से होती है, किन्तु वही माता-पिता मिलने का कारण क्या है? कारण है वैसी भवितव्यता।

(३) स्वभाव कारण :

इस प्रकार कुदरत में कर्म, भवितव्यता के साथ स्वभाव भी है। क्योंकि,

उदा. कर्म से पुत्र प्राप्त हुआ और भवितव्यता ने किसी खास जीव को ही वहाँ रख दिया अर्थात् गर्भ में पुत्र आ गया। किन्तु अब वह नौ महीने के बाद ही क्यों जन्म ग्रहण करने लायक शरीरवाला बनता है? गर्भ में आ कर भी तुरंत ३-४ दिन में या महिने में ही पुख्त शरीर क्यों नहीं बनता? तब, वहाँ स्वभाव को कारण कहना पडेगा।

गर्भ में उत्पन्न होनेवाले शरीर को बनानेवाले औदारिक पुद्गलों का स्वभाव ही है कि, वह धीरे-धीरे ही काया का निर्माण करते है।

जीव गर्भज ना हो, किन्तु संमूर्च्छिम हो, तो उसके शरीर का निर्माण करनेवाले पुद्गलों का स्वभाव अचानक ही पुख्त शरीर बनाने का है।

वैसे ही, देव-नारक के वैक्रिय शरीर का निर्माण करनेवाले पुद्गलों का भी यही स्वभाव है कि जीव वहाँ उत्पन्न होने के साथ ही पुख्त शरीर बना दे।

अग्नि का स्वभाव है कि उसकी ज्वाला ऊँची जाती है और वह जलाती भी है। जबकि पानी का स्वभाव है कि वह शीतलता प्रदान करता है। इसमें कर्म, भवितव्यता नहीं अपितु स्वभाव मुख्य कार्य करता है।

स्वभाव दोष के कारण ही अभवी जीव को अनगिनत धर्मसामग्री मिलने के बावजूद और धर्म पुरुषार्थ होने के बावजूद उसमें सम्यग्दर्शन प्रगट ही नहीं होता।

इस प्रकार कुदरत के क्रम में कर्म, भवितव्यता और स्वभाव है, इतना ही नहीं काल भी कुदरत में समाविष्ट है।

(४) काल का भी प्रभाव देखो कैसा है? :

भवि जीव को,

(१) भवितव्यता ने निगोद अवस्था से बाहर निकाला, और

(२) कर्म ने आर्य मनुष्यभव की प्राप्ति करवाई और देव-गुरु-धर्म की सामग्री भी प्रदान करवाई,

(३) और उस भव्य जीव में मोक्ष प्राप्ति का स्वभाव भी है। तीनों कारण अनुकूल हो, और

(४) उसने धर्म पुरुषार्थ भी किया। परंतु जब तक वह अ-चरमावर्त काल में है अर्थात् उसकी संसार अवस्था के चरम अंतिम पुद्गल परावर्त काल के पूर्व के काल में है, तब तक मोक्ष तो क्या, वह मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शनादि की भी प्राप्ति नहीं कर सकता। कारण क्या? यही कि, काल अनुकूल नहीं है।

मोक्षमार्ग प्राप्ति का योग्य काल चरमावर्त, चरम पुद्गल-परावर्तकाल। काल तैयार हो अर्थात् पूर्व का काल पूर्ण भर जाये, तत्पश्चात ही उसके लिए धर्म औषध का कार्य करता है।

मुदती बुखार में क्या होता है? वह सात या चौदह आदि दिनों की मुदत का काल ना मिले, तब तक चाहे कितनी भी दवाई आदि ग्रहण करो, फिर भी भीतर से हटता नहीं। कोई भी औषधि कार्य नहीं कर पाती। बडा धन्वंतरी वैद्य भी कुछ नहीं कर पाता।

प्रश्न : किन्तु आज के डोक्टर टाईफोईड बुखार को भी दवाई के माध्यम से जल्दी उतार देते है ना?

उत्तर : जिसका बुखार जल्दी उतर गया, उसे यह भी पूछो ना कि अब मुख साफ हो गया क्या? बुखार के पूर्व जो तंदुरस्त अवस्था थी, उसमें भोजन करने की जो सहज रुचि थी, मुख से जो स्वच्छ और मीठी अमी का प्रसार हो रहा था, वह रुचि अब आ रही है क्या? वह स्वच्छ है क्या? शरीर में उत्तम स्फूर्ति है? या सुस्ती रहती है? और हड्डीयाँ दम भर रही है क्या? यह सब क्यों हुआ? बुखार के दोष हेतु।

शरीर में मुख्य वात-पित्त-कफ की साम्यता है और वह कुपित हो

गये तभी बुखार आया। बुखार कुदरत ले आती है, वह बुखार कुपित बने वात-पित्त-कफ के दोषों को पकाता है। किन्तु उसे समय लगता है। बाहर से गोलीओं के जोर से बुखार को दबा दिया, तो क्या फायदा? अंदर जो कुपित दोष है, वह तो वैसे के वैसे ही है। मुदत के बिना वह नष्ट भी नहीं होंगे।

इस हिसाब से समय-काल भी स्वतंत्र कारण है। 'स्वतंत्र' यानि जैसे कर्म एक अलग कारण, भवितव्यता अलग कारण, स्वभाव अलग कारण, वैसे काल भी अलग कारण है। उसी प्रकार,

(५) पुरुषार्थ भी एक स्वतंत्र कारण है :

कुदरत अर्थात् मात्र यह भवितव्यतादि चार कारण का समूह नहीं, अपितु उसमें पुरुषार्थ-उद्यम भी समाविष्ट है। कार्य बनने के पीछे उन चारों की तरह पुरुषार्थ का भी स्वतंत्र स्थान है, उसका भी अलग योगदान है।

अब पाँचो कारण कैसे कार्य करते है, वह जानते है। पूर्व में विचार किया उसी तरह,

(१) भवितव्यतावश निगोद से बाहर निकला,

(२) स्वभाव भव्यत्व का जिसे है, उसे अनादिसिद्ध है ही, नया सर्जित नहीं है,

(३) उस भव्य को ही चरमावर्त, मोक्ष जाने से पूर्व का अंतिम पुद्गलपरावर्त काल, उस काल ने चरमावर्त काल प्रदान किया और

(४) कर्म ने मनुष्यभव यावत देव-गुरु-धर्म का संयोग दिया।

(५) अब क्या इतने से ही मोक्ष हो जायेगा? या मोक्ष हेतु देव-गुरु-धर्म की, मोक्षमार्ग की आराधना का पुरुषार्थ भी करना पडेगा?

पुरुषार्थ करना ही ना होता, तो भगवान ने शासन स्थापना भी ना की होती, मोक्षमार्ग का उपदेश भी ना दिया होता। उपदेश क्यों दिया? इसीलिए कि, जीव यह सुनकर मोक्षमार्ग के साधना करने हेतु उद्यमवंत बने, पुरुषार्थ करे। भगवान ने शासन स्थापना की है, उसमें यह अपेक्षित है कि, 'जीव कुछ अच्छा करे, अर्थात् मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करे।'

प्रश्न : कई लोग कहते है ना कि, पुरुषार्थ भवितव्यता से होता है?

उत्तर : यह कहनेवाले संसार में जितना पुरुषार्थ करते है, तो क्या वह भवितव्यता देखकर करते है? 'यह पुरुषार्थ भवितव्यता होने पर ही होगा, अत: देखूँ तो सही कि, इस पुरुषार्थ की भवितव्यता मुझे है या नहीं?' क्या यह सोचते है? नहीं, वहाँ तो समझते है कि, 'पुरुषार्थ तो मैं करूँगा तभी होगा, नहीं करूँगा तो नहीं होगा।'

तभी तो स्वयं का आलसी पुत्र यदि कहे कि, 'पिताजी ! मेरी यह भवितव्यता नहीं है, अत: दुकान जाने का या नौकरी ढूँढने का पुरुषार्थ नहीं होता।' तो, क्या पिता यह मान लेगा?

नहीं, वह तो तुरंत बोलेगा : 'चूप हो जा, तुझे भवितव्यता आँखों से दिखती भी है? मेहनत करनी नहीं है, बस हराम का खाना है, तभी तो बहाना बना रहा है भवितव्यता का !' पिता उस पुत्र को यही कहेगा ना?

तो जब हम आपको धर्म करने का कहते है और आप जवाब देते हो : 'गुरुदेव ! हमारी यह भवितव्यता ही नहीं है, अत: धर्म में मेहनत नहीं होती।' तो क्या हम आपको नहीं कह सकते कि, 'चूप रहो ! भवितव्यता क्या आपको आँखों से दिखती है? धर्म की मेहनत करनी नहीं और धर्म के लिए आलसी बनना है, तभी तो भवितव्यता का बहाना बना रहे हो !'

बचपन से ही क्या सिखाते है? भवितव्यता या मेहनत? :

आप आपके पुत्र को उसके बचपन से क्या सिखाते हो – भवितव्यता या मेहनत? कहो?

बालक है और आप बाहर से प्यासे आ कर उस बालक से पानी माँगते हो, और वह बैठा रहकर या सोता हुआ ही जवाब दे : 'मेरे लिए अभी पानी देनेवाली मेहनत की भवितव्यता नहीं है। भवितव्यता होती तो उद्यम होता ना?'

तब आप उसे क्या कहोगे? 'मूर्ख ! उठ, खडा हो जा और जा मटके से पानी भर के ले आ। फिर पता चलेगा कि भवितव्यता है या नहीं। सेवा की मेहनत करनी नहीं और मूर्खता से भवितव्यता का गलत बहाना बना रहा है?' आप अपने पुत्र को यही सब कहोगे ना?

तो फिर जब आप लोग हमें कहते हो कि, 'हमारी यह भवितव्यता ही नहीं है, अत: हम धर्म नहीं करते। भवितव्यता होती, तो धर्म का उदय हो जाता।'

तो क्या हम आपको यह नहीं कह सकते कि, 'मूर्खता का त्याग करो। उठो और मंदिर जाओ, उपाश्रय जाओ, धर्म करने लगो, दान देना शुरु करो, व्रत-नियम ग्रहण करते रहो, तप करने लगो, प्रभुभक्ति-साधु सत्संग करने लगो फिर देखो कि भवितव्यता है या नहीं? धर्म की कोई परवाह नहीं है, धर्म करना ही नहीं, अत: मूर्खता से भवितव्यता का मिथ्या बहाना बना रहे हो?' इस प्रकार आपको भी कह सकते है ना?

इन बातों से ज्ञात होता है कि, पुरुषार्थ भवितव्यता के आधीन नहीं है।

हर एक कारण भवितव्यता से कैसे स्वतंत्र? :

(१) क्या काल भवितव्यता के आधीन है? यह २०३२ का वर्ष है, तो २०३३ के वर्ष का काल क्या भवितव्यता होने पर ही आयेगा? या काल स्वतंत्र स्वरूप से ही आता है?

(२) क्या स्वभाव भवितव्यता के आधीन है? क्या भवितव्यता हो, तो ही जीव का भव्यत्व या अभव्यत्व का स्वभाव बनता है? या वह स्वभाव स्वतंत्र ही प्राप्त होता है?

(३) तो क्या कर्म भवितव्यता के आधीन है? झूठ बोलो, कपट करो, विश्वासघात करो, जीव की हत्या करो, परंतु क्या भवितव्यता होने पर ही कर्मबंध होगा? या पाप करो तो तुरंत ही कर्मबंध होता है?

तो, जब काल-स्वभाव-कर्म किसी भी भवितव्यता के आधीन नहीं है, तो फिर पुरुषार्थ किस कारण से उसके आधीन हो सकता है?

जैसे यह काल आदि भवितव्यता के आधार रहित स्वतंत्र है, वैसे पुरुषार्थ भी भवितव्यता के आधार रहित स्वतंत्र क्यों ना रहे?

जैसे काल विभिन्न कारण, स्वभाव भी विभिन्न कारण, कर्म भी विभिन्न कारण और भवितव्यता भी विभिन्न कारण; वैसे पुरुषार्थ भी एक विभिन्न कारण ही है। भले ही यह पाँच एकजूट हो कर कार्य करे, किन्तु पाँच में से कोई भी

दूसरे में से जन्म प्राप्त करके कार्य नहीं करते है। काल में से स्वभाव जन्म प्राप्त नहीं करता। स्वभाव से काल उत्पन्न नहीं होता। तो पूछो कि,

कर्म के प्रति पुरुषार्थ कारण नहीं? :

प्रश्न : किन्तु पुरुषार्थ तो कर्म से ही उत्पन्न होता है ना?

उत्तर : हाँ होता है, किन्तु यदि किसी एक कार्य की बात करे, तो उस कार्य के प्रति जो कर्म कारणभूत है, वह कर्म उसी कार्य के प्रति कारणभूत पुरुषार्थ से उत्पन्न नहीं है, वह तो पूर्व के कोई पुरुषार्थ से उत्पन्न हुए है। अत: प्रस्तुत कार्य के प्रति कारण में कर्म स्वतंत्र होता है, और पुरुषार्थ भी स्वतंत्र होता है।

उदा. व्यापार से पैसे कमाये जाते है। वहाँ कमाई के कार्य में व्यापार का पुरुषार्थ कारण है, वैसे पूर्व के शुभकर्म भी कारण है। किन्तु वह कर्म इस पुरुषार्थ से पैदा नहीं हुए; वह तो पूर्व के ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुए है।

प्रस्तुत धनकमाईरूपी कार्य के प्रति वर्तमान पुरुषार्थ, पूर्वोपार्जित कर्म, योग्य काल, वस्तु-स्वभाव और भवितव्यता यह पाँचो कारण स्वतंत्र कार्य करते है। किन्तु पाँच में से कोई एक कारण अन्य कारण के आधार पर पैदा नहीं हुआ।

सारांश : कार्य के प्रति सामान्य से पाँचो कारण कार्य करते है। वह पाँचो कारण ही कुदरत है। 'कुदरत का अद्दल इन्साफ है' अर्थात् इन पाँच कारणों का समन्वय यानि की समूह का अद्दल इन्साफ है। अर्थात् वह योग्य कार्य को जन्म देता है।

अत: अब समझ सकते है कि, उस राजा ने नरसिंह को चार बार मार डालने का प्रयत्न किया, तब तक स्वपुत्र को खोने योग्य पाँच कारण एक साथ जुटे नहीं थे और पाँचवे प्रयत्न में वह जुट गये, अत: अपने द्वारा ही अपने ही पुत्र को गँवाने का कार्य हो गया।

स्वयं के अशुभकर्म का उदय अब हुआ, अत: पाँचो कारण के जुट जाने पर राजा को पुत्र का वियोग हुआ, उसी कुदरत ने राजा को यह सजा दे दी। अब प्रश्न यह उठता है कि,

राजकुमार को सजा कैसे? :

प्रश्न : इसमें राजकुमार का क्या अपराध, जो कुदरत ने उसे सजा दे दी?

उत्तर : राजकुमार को इस प्रकार दर्दनाक पीडा से मृत्यु की प्राप्ति हुई, उसमें भी वही पाँच कारण का कार्य हुआ। उसमें उसने स्वयं पूर्वभव में अशुभकर्म का उपार्जन किया था, जो यहाँ उदय हुए।

वह भी इसी प्रकार कि, 'जब नरसिंह पूजापा ले कर देवीमंदिर को जा रहा हो, उसी वक्त वह कुमार झरोखे में बैठा हो और उसे नरसिंह दिख जाये, और स्वयं विवेक करके चल पडे।' यह तमाम घटना भवितव्यता से निर्मित हुई।

अशुभकर्म में यह नहीं लिखा था कि, इस प्रकार अपने ही पिता की तरफ से षडयंत्र हो और उसमें स्वयं फँसकर पीडित हो। नहीं, अशुभकर्म तो अशाता वेदनीय कर्म और उसमें इतनी अशाता-पीडा प्रदान करना, यही निर्धारित होता है, इतनी ही खासियत होती है। किन्तु नियत प्रकार के संयोग बना देना, वह तो भवितव्यता का कार्य है।

अत: समझ लो कि मात्र सुख-शाता या पीडा-अशाता प्रदान करने का कार्य ही पूर्वोपार्जित कर्म का है, नियत प्रकार के संयोग बनाने का कार्य उनका नहीं है।

अत: जो लोग आत्मा में नहीं मानते, कर्म को नहीं मानते; उन्हें पूछो : 'यहाँ नरसिंह अवश्यरूप से फँस जाये, वही स्थिति थी, फिर भी राजकुमार कैसे फँस गया?' तो, वह लोग राजकुमार के कर्म के अलावा अन्य क्या समाधान दे पायेंगे? राजकुमार अपने ही कोई पूर्व के अशुभकर्म के कारण फँस गया।

उसके पिता राजा को तो शांति मिल गई थी कि, 'चलो ! अब तो नरसिंह का समाधान हो ही गया। अब फिकर की कोई बात ही नहीं, मेरे पुत्र का दुश्मन मिट गया।' किन्तु यह बेफिकराई कब तक होगी?

प्रात:काल में ही लोग यथायोग्य कार्य में निकल पडे। नगर के बाहर देवीमंदिर के मार्ग पर राजकुमार का लहु से लथपथ मृतदेह देखते है। यह बात वायुगति

से नगर में और राजा तक भी पहुँच गई कि, 'किसीने हमारे राजकुमार की हत्या कर दी है और मृतदेह नगर के बाहर मार्ग पर पडा है !'

राजा तो यह सुनते ही चौंक उठा : 'अरे ! यह क्या हो गया? नरसिंह के बदले मेरा पुत्र ही मर गया?' किन्तु इस हालात में भी वह सोचता है कि, 'शायद नरसिंह ने कुमार के ही वस्त्र धारण कर लिए हो, जिससे मृतक नरसिंह को लोग राजकुमार समझकर आक्रंद कर रहे होंगे।'



१०. राजा को पश्चात्ताप

राजा का पुत्रमरण पर आक्रंद :

राजा तो उठकर नगर के बाहर जा पहुँचा और वहाँ एकत्रित भीड को चीरता हुआ आगे जा कर देखता है, तब मुख से अपने ही पुत्र को पहचान कर देखता है कि उसका ही पुत्र मर चूका है। अब उसका क्या हाल होगा?

अपना ही सर पकडकर जोरों से आक्रंद करता है : 'हाय ! मेरे पुत्र ! यह तुझे क्या हो गया? अरे ! तू कैसे मर गया? मेरे प्राणप्रिय पुत्र ! मेरा जीवन ! मेरे राजदुलारे ! तू कहाँ चला गया? यह तुझे क्या हो गया?'

एक तरफ राजा जोरों से आक्रंद करता है, तो दूसरी तरफ दिवान-मंत्री-खजानची-सेनापति-फोजदार-नगरसेठ आदि तमाम लोग वहाँ एकत्रित हो जाते है।

वह तमाम देख रहे है कि, राजा इस प्रकार आक्रंद कर रहे है, किन्तु यह क्यों नहीं बोल रहे हि, 'किस पापी ने मेरे पुत्र को मार डाला? सैनिको ! जाओ, और नगर में जाँच करो। उस पापी हत्यारे को पकड लाओ। दिवानजी ! अभी के अभी तहकीकत करो कि किस पापी ने यह कृत्य किया?' राजा क्यों ऐसा कोई आदेश नहीं दे रहे?

सर्वजन यही सोच रह है कि, राजा क्यों कोई आदेश नहीं दे रहे?

तब दिवान अश्रुसभर नयनों से कहता है : 'महाराज ! यह तो भयावह दुर्घटना हो गई। आपका तो पुत्र गया, किन्तु हमारे लिए तो समस्त प्रजा के भविष्य समान महागुणवान स्वामी चला गया ! मैं खूनी की छानबीन करवाता हूँ। उस पापी को ढूँढकर तडपा-तडपा कर मारेंगे।'

राजा यह सुन रहा है। मन में चिंतन कर रहा है कि, 'किसे पकडेंगे? शायद जाद पकडे जायेंगे और दिवान उन्हें धमकी देगा, तब तडप-तडपकर मरने के डर से मेरा नाम ही दे देंगे। अत: वास्तविकता से तो मैं ही शिक्षा के पात्र माना जाऊँगा।'

'किन्तु अब मैं भी क्यों सच्चाई से मुँह फैरूँ? कुदरत ने तो मुझे दंड दे दिया है, परंतु कर्म की घोर नरकागार की सजा तो मेरे लिए तैयार ही है। तो अब लोगों को मेरे दुष्ट चरित्र से परिचित करवा ही देता हूँ, जिससे उन्हें कुछ सिख मिले और मैं मेरे पापों का कुछ हद तक प्रक्षालन कर सकूँ।'

राजा यह विचार कर रहा है, तभी दिवान बोलता है : 'अरे फोजदार ! जमादार ! जाओ और कुमारसाहब के हत्यारों को ढूँढ कर लाओ।' दिवान को राजा की आंतरव्यथा की क्या जानकारी?

किन्तु राजा तुरंत बोलता है : 'भाई ! रहने दो, कुछ नहीं करना। कुमार का खूनी मैं स्वयं हूँ।'

यह सुनकर दिवान और उपस्थित तमाम लोगों में सन्नाटा छा गया : 'अरे ! यह क्या? महाराज स्वयं अपने ही प्राणप्रिय पुत्र के खूनी है? क्या महाराज विक्षिप्त तो नहीं हो गये?'

दिवान कहता है : 'महाराज ! यह आप क्या बोल रहे है? क्या आपने प्रजा के संरक्षण में कमी रखी और यह घटना बन गई, इस कारण आप बोल रहे है कि, कुमार का खूनी आप स्वयं ही है?'

राजा को पाप का प्रचंड संताप :

राजा कहता है : 'नहीं, वह हिसाब नहीं है। किन्तु अन्य किसी का खून करने का प्रपंच मैंने ही रचा था, किन्तु उसमें कुमार ही फँस गया। अत: मैं कहता हूँ कि खूनी मैं ही हूँ।'

राजा का हृदय परिवर्तन हो रहा है। उसके मन में उग्र पश्चात्ताप की ज्वाला जल रही है। अत: सत्य बात को प्रकट करके वह अपना मन शांत करना चाहता है।

वह सोच रहा है कि, 'ज्योतिषी ने तो कहा ही था कि, यह नरसिंह राजा

बनेगा। अत: वह राजा होगा, यह बात कुदरती थी। किन्तु मैंने कुदरत के विरुद्ध जा कर उसकी हत्या का पाँच-पाँच बार प्रयत्न किया, किन्तु चार बार कुदरत ने मुझे बक्षा। फिर भी मैं मूर्ख, मैंने नरसिंह को मारने का पुन: प्रयत्न किया, तो इस बार कुदरत ने मुझे परचा दे ही दिया।'

'निर्दोष राजकुमार का तो कोई दोष ही नहीं था, फिर भी मेरे पाप के कारण नरसिंह के बदले कुमार ही रात्रि के समय देवीमंदिर चला गया, और मेरे द्वारा ही भेजे गये हत्यारों ने उसे मार दिया !'

'इस घोर पाप के फल स्वरूप में मैं लोगों को बताऊँ, और लोक में मेरा अपमान हो, वह कोई बडी सजा नहीं है। मुझे अब भविष्य में नरकादि के जो घोर दु:ख सहन करने है, उनके सामने यह अपमान अति अल्प है। अत: लोगों को मेरा दुष्ट चरित्र बता देता हूँ।'

यह विचारधारा राजा के मन में चल रही है। अंतर में जल रहा सत्य पापसंताप हो, तो अपना अपमान आदि का कोई डर नहीं रहता।

सच्चा पाप पश्चात्ताप यही है कि, जो स्वमान हानि, अपमान, निंदा आदि उस जालिम पाप की और पाप के फलरूप भवभ्रमण की भयानकता के सामने महत्त्वपूर्ण ना लगे।

लोगों के सन्मुख तो नहीं, किन्तु मात्र गुरु सन्मुख भी अपने पाप की आलोचना, पाप की कबूलात करते वक्त भी तैयारी क्यों नहीं हो रही? क्या पाप खराब नहीं लगा? पाप तो खराब लगा ही है, किन्तु उससे भी अधिक खराब स्वमानहानि लगती है।

मन को भी पता नहीं क्यों यही होता है कि, 'पाप, पाप के फल भयावह, किन्तु स्वमानहानि तो उससे भी महाभयंकर !' अभिमान परेशान कर देता है कि, 'मैं पाप का प्रकाश करके गलत क्यों दिखूँ?'

अरे भाई ! तू गलत दिख जाये, वह ठीक है? या तुने जो पाप किया वह ठीक है? तू यह क्यों नहीं सोच सकता कि, अरे ! यह मैं कैसा निर्लज्ज, कैसा नालायक जो मैंने यह पाप कर दिया !

तु गुरु की नजर में शायद हीन बन जाये, वह तेरी नालायकी नहीं है, किन्तु तुने यह हीन पाप किया वही तेरी नालायकी है।

उल्टा, गुरु के सन्मुख आलोचना-एकरार करेगा, तो पाप की नालायकी कम होगी, और नहीं करेगा तो नालायकी वृद्धिवंत होती रहेगी। क्योंकि उसके शल्य-संस्कार आत्मा में रह जाने से भवांतर में पापिष्ठता आयेगी, वही बडी नालायकी है। याद रखो,

पाप करना नालायकी है, उसका गुरु के सन्मुख एकरार नहीं करना वह नालायकी को बढाने का कार्य हुआ और उस शल्य द्वारा भवांतर में पापिष्ठता आयेगी, वह भयंकर नालायकी साबित होती है।

पाप भयंकर या पाप के फल भयंकर? :

पाप के फल कम भयंकर नहीं है। पाप से, पाप आचरण की लहर से बडे दु:ख तो आते ही है, किन्तु साथ-साथ पाप की बुद्धि भी आती है, वह जीवन पापिष्ठ बनाती है। अत: फिर से पापाचरण, पाप की परंपरा प्रवृत्तमान होती है। यह सब भयंकर है, किन्तु किसके कारण? यहाँ मानवभव में मस्त बनकर जो पापसेवन किए है, उससे पापपरंपरादि उत्पन्न होते है, अत: मूल में पाप भयंकर है।

यह तो वही बात है कि, सर्प भयंकर है या सर्पदंस का परिणाम भयंकर? परिणाम मौत ! अत: वह तो भयंकर है ही, किन्तु वह किस वजह से हुआ? सर्प और सर्प के जहर से, अत: मूल में तो सर्प ही भयंकर है।

'नहीं, मैं तो सर्प के साथ क्रीडा करूँगा, उसके साथ रहूँगा, उसका दंस, उसका जहर नहीं लगने दूँगा,' यह सोच सकते हो क्या? नहीं, वहाँ समझ है कि, सर्प है, अत: उसमें से भयानकता का सर्जन होने का बडा संभव है। अत: उसके पास नहीं, उससे दूर ही रहा जाता है।

बस, पाप में भी यही बात है कि, पापक्रिया से भयानकता का सर्जन होता है, अत: पापक्रिया से दूर ही रहना उत्तम है। पाप का खेल बेकार है, भयंकर है। हमारे मन को पाप भयंकर लगना चाहिए।

'पाप के फल भयंकर' यह तो हम बोलते रहते है, किन्तु वह भयंकर फल अभी तो प्रत्यक्ष नहीं है और जो पाप प्रत्यक्ष दिख रहे है, वह भयंकर लगता नहीं हैं। फिर पाप से दूर रहना और पाप का अनाचरण कैसे संभव है?

तभी तो, मन को मूल नींव में ही भयानकता दृष्टिगोचर होनी चाहिए, पाप की भयानकता लगनी चाहिए। कैसे लगेगी?

पाप भयानक लगे उस हेतु विचारणा :

(i) मन में यह लगे कि, 'पाप भयंकर है' उसके लिए यही सोचना है कि, 'पाप के फल तो भयंकर है ही, उसके भय से पापाचरण ना हो; किन्तु पाप की मनाई भगवान ने की है, तो मैं पाप सेवन करके भगवान की आज्ञा का भंग करूँ?'

(ii) 'जिस धर्मस्थान के धार्मिक स्तर पर मैं हूँ, उसे तो पाप कलंक लगाता ही है, तो क्या मैं इस विश्व में महादुर्लभ धर्मस्थान प्राप्त करने के बाद भी उसे कलंक लगाऊँ? नुकसान करूँ?'

(iii) 'मैं किसका शिष्य हूँ? किसका भक्त हूँ? किसी गुरु का। उन गुरु का शिष्य-भक्त बनकर पाप सेवन करूँ, तो उस गुरु का शिष्य या भक्त बनने का गौरव कैसे रहेगा? गुरु को लांछन लगे, लोक कहे कि, 'ऐसे गुरु का शिष्य बनकर यह पाप करता है?'

(iv) 'और इतने उच्च आर्य मानवभव को मुश्किल से प्राप्त किया है, वह भी पाप को तोडते हुए प्राप्त किया, अब पुनः पापाचरण करूँ? मानवभव को निष्फल करूँ?'

सारांश : पाप इन कारणों से भयंकर है :

(१) पाप जिनाज्ञा का भंग कराता है।
(२) पाप धर्मस्थान-धार्मिक स्तर को कलंक लगाता है।
(३) पाप उत्तम गुरु के शिष्यावस्था का गौरव तोड देता है, गुरु को भी लांछन लगाता है।
(४) पाप के त्याग से प्राप्त हुए इस आर्य मानवभव को पाप का राग निष्फल बनाता है।
(५) पाप अन्य को भी दुःखी करता है।
(६) पाप उत्तम पुरुषों की नजर में अपयश प्रदान करता है।

इन तमाम अनर्थों के कारण पाप भयंकर है।

मन को यदि यह हो जाये, एक बार ही नहीं, अपितु बार-बार मन को यही होता रहे, तो पाप का फल तो भयानक लगेगा ही, किन्तु प्रत्यक्ष पाप भी महाभयंकर ही लगेंगे।

मानहानि से भी ज्यादा पाप भयंकर न लगे, तो सम्यक्त्व रहेगा? :

पाप की इस महाभयानकता के आगे, गुरु के सन्मुख उसकी आलोचना करते वक्त शायद हीनता प्रगट हो गई, स्वमान का ध्वंस हुआ, तो वह भी कहाँ भयंकर है? वह भयानकता नहीं लगती, तभी तो गुरु के सन्मुख गुप्त पापों की आलोचना नहीं होती। परंतु यह ज्ञात नहीं है कि,

पाप एकरार में हो रही स्वमानहानि से अधिक पाप अति भयंकर नहीं लगता, तो सम्यक्त्व नहीं रहता।

आलोचना ना करके स्वमान बचाये रखा, तो क्या वह भयंकरता मिट जायेगी? नहीं, उल्टा पाप का शल्य हृदय में ही दब जाने से भयंकरता बढ जायेगी।

स्वमान कैसा भयावह है ! किसीके सन्मुख झूठ बोले, और सामनेवाला झूठ को पकडकर हमें गलत ठहराता है।

हम पर चिल्लाते हुए कहता है कि, 'क्यों झूठ बोल रहे हो?'

तब हम क्या करते है? क्या झूठ की भयंकरता अधिक लगकर यह हीनता मामूली लगती है या झूठ हीनता ही अधिक खराब लगती है? क्या हम उसे दबाते जायेंगे कि, 'क्यों इतना चिल्लाकर बोल रहे हो? इतना भी क्या गलत कर दिया कि, इतना अधिक क्रोध कर रहे हो?'

झूठ अधिक भयंकर लगता है, तो स्वमानरक्षा हेतु इस प्रकार बचाव पक्ष नहीं लेते।

स्वात्मा का निरीक्षण करने की आवश्यकता है कि, 'अपनी मानहानि हो तब मन विचलित हो जाता है?'

जहाँ नौकरी करते है, उस सेठ के अपशब्द परेशान करते है। किन्तु यदि स्वयं सामने जवाब दे दे और सेठ नौकरी से निकाल दे और उत्तम धनप्राप्ति से भी हाथ गँवाना पडे, यह बात अधिक परेशान कर देती है। अत: नौकरी बचाने हेतु सेठ के अपशब्द-धृष्टता को भी सहन कर लेते है।

वैसे ही, यदि पाप अधिक परेशान कर रहा हो, तो हीनता को सहन करना सिखना पडेगा। झूठ जचता नहीं हो, तो सामनेवाला उस झूठ पर क्रोध करे, तब मन को विचलित नहीं करना है।

उस राजा को अब अपने पाप परेशान करने लगे है, तभी तो लोग निंदा करे, लोक की द्रष्टि में स्वयं अपने ही पापों के एकरार से हीन बन जाये; इस बात की कोई चिंता नहीं है।

जबकि लोगों में कोई राजा के प्रपंच को नहीं जानता, फिर भी राजा स्वयं के तमाम प्रपंच लोगों के सन्मुख प्रकट करने हेतु तैयार हो चूका है।

प्रश्न : ऐसे घोर पाप इस प्रकार कैसे सब के सामने बोल सकते है?

उत्तर : राजा के मन में अब स्वयं के प्रति इतना तिरस्कार फैल चूका है और उसी प्रकार अपने ही पापी आत्मा पर भी घृणा-जुगुप्सा भी इस हद तक फैल चूकी है कि, उसके सन्मुख लोक में अपने कोई महत्ता नहीं मानता। एक मूर्ख गरीब भी उसे अपने से उत्तम प्रतीत हो रहा है। अपना राजसी वैभव आदि की कोई किमत नहीं रहती। मार्ग के भिक्षुक से भी हीन स्वयं को समझता है।

राजा के मन से खुद का ही मान, इज्जत नष्ट हो चूके है, अत: अब सरेआम अपने प्रपंच की सत्य हकीकत प्रकट करते समय वह हीचकीचाता नहीं।

राजा एकत्रित हुए मंत्री, अमलदार और लोगों को हाथ जोडकर कहता है। राजा को अपने ही पापों का अपार पश्चात्ताप हुआ है और उससे भी अधिक स्वयं के पाप से खुद का ही प्राणप्रिय निर्दोष पुत्र जीते जी अचानक हो चूके प्रहारों के कारण मर चूका है, अत: राजा को अत्यंत अफसोस हुआ है, उसके हृदय में भारी आघात लगा है, हृदय रो रहा है। अत: अत्यंत आक्रंद और रुदन करते हुए कहता है :

राजा का सर्वसन्मुख एकरार :

'भाईओ ! मेरे पुत्र का घातक मैं ही हूँ। मैंने मेरे जमाई नरसिंह को मारने हेतु

षडयंत्र रचा था। किन्तु पुण्यवान नरसिंह तो बच गया, परंतु मेरा पुत्र निर्दोष कुमार उसमें फँस गया और मर गया ! कुदरत भी क्या कार्य करती है ! जिसने जो बोया, उसने सो पाया।'

'नरसिंह को मरवाने हेतु मैंने पूर्व में भी चार बार योजना बनाई थी, वह तो कुदरत ने माफ कर दी। नरसिंह को उसके पुण्य से खरौंच तक नहीं आई और मुझे भी कुदरत ने कोई शिक्षा नहीं दी। किन्तु इस बार के प्रयत्न में कुदरत ने मुझे कडा सबक दिया है। मेरे ही पुत्र को उठा लिया !'

'बात यह है कि, नरसिंह के जन्म के बाद वह करीबन चार माह का था, तब उसके पिता पुरोहित उसे मेरे पास ले कर आये थे, तब ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि, 'यह बालक मेरी गादी पर वारिस बनेगा।' यह सुनकर मुझे कलंक सा लगा कि, 'यह भिक्षुक का पुत्र मेरा वारिस कैसे बन सकता है?'

अत: मैंने हत्यारों के द्वारा उसे मार डालने की योजना बनाई, किन्तु उसका पुण्य होगा जो वह मरा नहीं, और मालन के वहाँ पुत्र रूप में पलने लगा। पुन: वह करीब तीन वर्ष का था, तब मालन उसे मेरे पास ले कर आई। पुन: ज्योतिषी ने उसे देखकर वही भविष्य बताया। फिर से मैंने हत्यारे के द्वारा उसे मारने की योजना बनाई। फिर से वह बच निकला और सेठ का पुत्र बन बैठा !'

'वह सेठ भी नरसिंह जब १६ वर्ष का हुआ, तब उसे ले कर मेरे पास आया। पुन: ज्योतिषी ने भविष्यवाणी बताई। किन्तु इस बार मैंने कुटिलता से उस पर अत्यंत प्रेम जताकर उसे यहीं रोक लिया और युद्ध में वह मर जाये इस हेतु से दुश्मन राजा के साथ युद्ध करने भेजा, उसमें वह मरा नहीं, उल्टा विजेता बन गया !'

'इस प्रकार तीन-तीन बार वह बच गया, फिर भी मुझे यह विचार नहीं हुआ कि, 'इसे कुदरत ही बचा रही है, तो फिर मैं क्यों मेरी हठ पकडकर बैठा हूँ कि वह मेरा वारिस नहीं बन सकता।' मैंने पुत्र को पत्र लिखा कि, 'नरसिंह को तुरंत ही विष दे दो' किन्तु जिसे कुदरत ही बचा रही है, उसका कोई

क्या बिगाड लेगा? पता नहीं क्या जादु हो गया कि, पत्र में विष के बदले 'उषा' हो गया, और नरसिंह का विवाह मेरी ही पुत्री के साथ हो गया।'

'विवाह के बाद वह जब यहाँ लौट आये, तब भी मेरी मति शुद्ध ना हुई, जो मैंने नरसिंह को रात्रि के वक्त देवी के मंदिर में पूजापा चढाने का कार्य दे दिया और अंगत रूप में चांडालों को तैयार कर कह दिया कि, रात्रि के वक्त देवीमंदिर के मार्ग से जो भी मानव पूजापा ले कर जाये, उसे तुरंत ही खत्म कर देना।'

'किन्तु भाईओ ! जिसकी रखवाली स्वयं परमात्मा करते है, उसे कोई क्या कर लेगा? इस षडयंत्र में किसी तरह मेरा ही पुत्र फँस गया, वह पूजापा ले कर जा रहा होगा, और मृत्यु प्राप्त कर गया।'

राजा आत्महत्या करने हेतु तैयार :

राजा यह सब बता रहा है और अति आक्रंद कर रहा है। अत्यंत पश्चात्ताप के साथ कह रहा है कि,

'हे भगवान ! मैं कैसा अधमाधम हूँ कि निर्दोष नरसिंह को मारने का प्रयत्न करता ही गया। मैं कैसा पापिष्ठ हूँ कि मेरे प्रपंच से निर्दोष मेरे प्राणप्रिय राजकुमार की ही हत्या हो गई।'

'प्रभु ! कहाँ जाऊँ? मेरे पापों का क्षय कौन करेगा? हे मेरे नाथ ! मेरे जैसे पापीओं से यह धरती भारी हो रही है। मैं जीने के योग्य नहीं हूँ। मेरे कुमार पर हुए प्रहारों के बदले तलवार से मेरा गला काट दूँ, वह भी कम होगा। बस, अब तो आत्महत्या ही करना उचित है।'

राजा को इस हद तक पश्चात्ताप होता है कि, तलवार उठाकर स्वयं आत्महत्या करने हेतु तैयार हो जाता है। तभी मंत्री भी तुरंत उठकर तलवार पकड लेता है और कहता है :

मंत्री की तत्त्ववाणी :

'महाराज ! यह आप क्या कर रहे है? प्रजा का कोई दोष नहीं है, तो क्या आप अपनी प्रजा को मालिकरहित कर देना चाहते हो? यह तलवार मुझे दे दो।' यह कहकर मंत्री तलवार खींच लेता है।

पुनः कहता है : 'जो हो गया, सो हो गया। अब भूतकाल को भूल जाओ। भूतकाल पर रुदन करने से कुछ ठीक नहीं होगा और भविष्य भी बरबाद होता है। क्योंकि हृदय चिंता में मग्न होता है, तब भविष्य को सुंदर बनाने का विचार भी नहीं होता।'

'और इस प्रकार आत्महत्या कर लेने से पाप नष्ट नहीं होगा। पाप को नष्ट करने हेतु तो कठोर तप और उत्तम संयम का पालन व निष्पाप जीवन ही जरूरी है।'

राजा को यह बात सही लगी।

११. राजा की दीक्षा – नरसिंह राजा

संयोगवश हुआ यह कि वहाँ कोई ज्ञानी गुरु पधारे। लोग उनके दर्शन हेतु जाने लगे। उदास बना हुआ राजा भी पुत्रमृतक का संसारकार्य करके गुरुदर्शन हेतु गया।

वंदना करके राजा पूछता है : 'प्रभु ! इस नरसिंह की पूर्वभव की कौन सी पुण्यसाधना थी, जो यहाँ पाँच-पाँच बार उसकी हत्या के सचोट प्रयत्न करने के बावजूद, उसे कुछ नहीं हुआ?'

ज्ञानी मुनि कहते है : 'राजन ! नरसिंह ने पूर्वभव में भिक्षुक अवस्था में मात्र बार-बार परमात्म-दर्शन की उत्तम साधना की थी, वह भी निष्कामभाव से साधना की थी। जिसके प्रताप से मौत के मुख से भी वह बार-बार बचाव व उन्नति प्राप्त करता रहा है।' इस प्रकार मुनिवर ने नरसिंह का पूर्वभव बताया।

सर्वपापनिवृत्ति और तप ही सर्वपाप का प्रायश्चित्त : राजा मुनिमार्ग पर :

तत्पश्चात राजा ने अपने जालिम पापों से मुक्त होने हेतु उपाय पूछा, तब गुरु भगवंत ने हिंसादि सर्वपाप से सर्वथा निवृत्तिरूप संयम सहित उग्र तपस्या को उपाय स्वरूप बताया। और कहा : 'जीवन में सर्वपापों का यही प्रायश्चित्त है।'

राजा ने तुरंत ही नरसिंह को राज्यभार प्रदान किया और स्वयं ने संसार का त्याग करके गुरु भगवंत से मुनिमार्ग ग्रहण किया, संयम जीवन का स्वीकार किया।

इस कथानक में मुख्य बात यही है कि, नरसिंह को पूर्वभव के मात्र परमात्मा दर्शन ने भी कैसा प्रभाव बताया ! किन्तु याद रहे, उस वक्त भिक्षुकावस्था के कारण उसके पास धन नहीं था, अतः परमात्मभक्ति आदि दानधर्म की

शक्ति नहीं थी। अत: उसने उस स्थिति में किए प्रभुदर्शन से उत्तम भावोत्साह प्रगट हुआ।

यदि धन होता और उसे जमा कर रखा होता, तो उसकी मूर्च्छा ने दर्शन के भाव पर नियंत्रण रख दिया होता। किन्तु भिक्षुक के पास धन नहीं, अत: धन की मूर्च्छा भी नहीं थी। अत: उत्तम भावों से भरपूर उसके परमात्मदर्शन प्रभावक बन गये।

अत: आप धन को संग्रहित कर के भगवान के सूखें दर्शन करके यह आशा रखोगे, तो गलत कर रहे हो। परमात्मा के दर्शनमात्र में भी अजब शक्ति है।

यह भी याद रखना कि,

तन-धन की कोई मूर्च्छा यदि तप या दान की उपेक्षा करवाती है, तो वह मूर्च्छा का भाव अन्य दर्शनादि के भाव पर रोक लगा देगा।

अन्यथा प्रभुदर्शन के भावों का प्रभाव अत्यंत विशाल है।